यदि ब्रह्म रूप ही है तो उसकी उपाधि संज्ञा हो ही नहीं सकती।

क्योंकि उपाधि उसको कहते हैं जो स्वरूप से भिन्न हो। यदि स्वरूप से भिन्न स्वीकार करोगे तो वह दूसरी वस्तु हो जायेगी जिससे अद्वैतवाद को हानि होगी। चेतन ब्रह्म को जड़ माया की उपाधि लग ही नहीं सकती क्योंकि (१) ब्रह्म को माया से सर्वथा अतीत बताया गया है इस लिये माया की उपाधि नहीं हो सकती (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३-१-२७) (२) श्रुतियों में परमात्मा का स्वरूप दिव्य, अलौकिक और उपाधि रहित बताया है। (३) चेतन सर्वव्यापक ब्रह्म को उपाधि लग ही नहीं सकती जब कि वह उपाधि में भी व्यापक है (४) जाति से भिन्न चीज की उपाधि बन सकती है,परन्तु आपकी मान्यता है कि ब्रह्म के सिवा है ही कुछ नहीं तो फिर उपाधि किसकी? (५) जब सर्वव्यापक ब्रह्म हर वस्तु के अन्दर बाहर और उपाधि के जर्रे-जर्रे में व्यापक है बल्कि यह कहना चाहिये कि उपाधि भी ब्रह्म है (सर्वं खल्विदं ब्रह्म) तो फिर ब्रह्म को ब्रह्म की उपाधि कैसी ?

यह उदाहरण जो आपने अन्त:करण रूपी दर्पण, सामान्य चेतन (ब्रह्म) रूपी सूर्य और विशेष चेतन रूपी (जीव) विशेष प्रकाश का दिया है यह उदाहरण घटता नहीं। क्योंकि सूर्य तो दर्पण के बाहर ही होता है और उसका प्रतिबिंब दर्पण के अन्दर नजर आता है। याने बिंब (सूर्य) और इसका प्रतिबिंब दोनों दर्पण के अन्दर नहीं हो सकते। Reflection के नियमों के अनुसार बिंब (सूर्य) दर्पण के बाहर, दर्पण के सामने होगा और उसका प्रतिबिंब दर्पण के अन्दर मालूम होगा। परन्तु चेतन आत्मा ब्रह्मरूपी बिंब तो सर्वव्यापक है, वह तो अन्त:करण रूपी दर्पण के बाहर भी है और उसके

अन्दर भी है (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः) वह सब के अन्दर और बाहर भी है) दर्पण के जर्रे-जर्रे में व्यापक है। और इसका प्रतिबिंब, चेतन विशेष (जीव) भी अन्तःकरण (दर्पण) के अन्दर है जैसा कि वेदांत दर्शन १।२।११ में स्पष्ट लिखा है "गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्" अर्थात् हृदय-गुहा में प्रविष्ट हुए दोनों (आत्मानौ) जीवात्मा और परमात्मा ही हैं (दर्शनात्) क्योंकि ऐसा ही दूसरी श्रुति में देखा जाता है। यदि आप एकको बिंब और दूसरे को प्रतिबिंब कहें तो बिंब और प्रतिबिंब दोनों एक ही काल और देश (जगह) में अन्तः करण रूपी दर्पण में नहीं हो सकते।

सूर्य का प्रकाश दर्पण की Surface (सतह) पर पड़ता है और इस प्रकाश का प्रतिबिंब दर्पण से बाहर पड़ता है। सर्व-व्यापक चेतन ब्रह्मरूपी सूर्य से बाहर कोई जगह (Space) ही नहीं जहां उसकी चेतनता का प्रतिबिंब पड़ सके। वह स्वयं ही अपनी चेतनता के साथ अन्तःकरण के अन्दर, उसके बाहर सर्वत्र जर्रे-जर्रे के अन्दर व्यापक है। जब ब्रह्म और उसकी चेतनता सर्वत्र व्यापक है तो फिर उसकी चेतनता की अन्तः-करण में क्या विशेष आवश्यकता रह जाती है? यदि स्वयं ब्रह्म अपनी चेतनता के साथ अन्तःकरण में व्यापक है और आप इसको मानते हैं तो निम्न लिखित बातों पर विचार करें :—

(१) जब स्वयं ब्रह्म अपनी चेतनता-सहित अन्तःकरण में व्यापक है तो फिर अन्तःकरण में ब्रह्म से भिन्न ब्रह्म की चेतनता के प्रतिबिंब (चिदाभास) की क्या आवश्यकता रह जाती है?

(२) क्या ब्रह्म की सामान्य चेतनता और विशेष चेतनता में भेद है। यदि भेद मानोगे तो भिन्नता के कारण

आपके अद्वैतवाद को हानि होगी और ब्रह्म निर्विकार न रहेगा क्योंकि विना विकार के ब्रह्म की एकरस चेतनता में से दो प्रकार की भिन्न-भिन्न चेतनता नहीं पैदा हो सकती। एक सामान्य और दूसरी विशेष चेतनता ?

(३) क्या सामान्य चेतन (बिंब) और विशेष चेतन (प्रतिबिम्ब) दोनों ही अन्तःकरण रूपी दर्पण के अन्दर एक ही काल और एक ही देश (जगह) में हो सकते हैं, तो reflection (अक्स) के किस नियमानुसार ? आपका यह दर्पण और एकदेशी सूर्य का उदाहरण प्रकाश के reflection के नियमों के अनुसार, सर्वदेशी परमात्मा (सूर्य) और अन्तःकरण रूपी दर्पण के लिये गलत हो जाता है। आप अन्तःकरण को एक दर्पण मानते हैं और आपके ख्याल में ब्रह्म की चेतनता का अक्स इस दर्पण में बनता है जिसे आप चिदाभास कहते हैं। इसी को आप चेतन विशेष भी कहते हैं। अन्तःकरण+चिदाभास (विशेष चेतन)+साक्षी चेतन (ब्रह्म) के संयोग को आप जीव कहते हैं। प्रश्न होता है कि अक्स तो साकार चीज का ही होता है और ब्रह्म तो निराकार है इस लिये उसके अक्स का होना तो असम्भव है। लेकिन विचित्र बात तो यह है कि आप ब्रह्म की चेतनता का अक्स मानते हैं। चेतनता तो ब्रह्म का गुण है। क्या गुणों का अक्स होता है ? गामा पहलवान दर्पण के सामने खड़ा है, क्या उसके बल का अक्स बनेगा, और वह बलवान् अक्स किसी पहलवान से मल्लयुद्ध कर सकेगा ? एक कमरे में कूलर (Cooler) लगा हुआ है, दूसरे कमरे में एक दर्पण में उस कूलर का अक्स है, क्या उस कूलर के अक्स से दूसरा कमरा ठण्डा हो जायेगा ? कभी नहीं। प्रतिबिम्ब (अक्स) में न बल होता है, न ज्ञान होता है, न ठण्डक, न गर्मी, न सुगन्ध, न मिठास, न नरमाई, न सख्ती, न चोर की

चोरी का अक्स। जब गुणों का अक्स होता ही नहीं तो फिर ब्रह्म की चेतनना का अक्स अन्तःकरण के दर्पण में कैसे बन गया ? यदि हम गुणों का अक्स होना थोड़ी देर के लिये मान भी लें तो फिर प्रश्न होता है कि ब्रह्म के बाकी गुणों का अक्स क्यों नहीं बना ? न आनन्दता का, न सर्वज्ञता का, न सर्वव्यापकता का, न सर्वशक्तिमानता का, न सृष्टि रचयिता का अक्स बना। इसका क्या कारण है ? यह सब आपकी कल्पना है। फिर यह बताया जाये कि जब अक्स तो बना ब्रह्म का तो उस (जीव) में ब्रह्म से विपरीत गुण कैसे आ गये ? सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, ज्ञानी से अज्ञानी, "शुद्धमपापविद्धम्" से पापी, मुक्तस्वरूप से बन्धी आनन्दस्वरूप से निरानन्द कैसे हो गया। जीव और ब्रह्म के गुणों में भिन्नता कैसे आ गई ? भिन्नता बिना विकार के आ नहीं सकतीं। ब्रह्म तो एकरस निर्विकार है। निर्विकार ब्रह्म में माया के दर्पण ने विकार कैसे पैदा कर दिये।

इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो आपको जीव को ब्रह्म से भिन्न मानना ही पड़ेगा। शास्त्रों की इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिये कि हृदयरूपी गुहा में जीवात्मा और परमात्मा दोनों व्यापक और व्याप्य होकर प्रविष्ट हैं, बिंब और प्रतिबिंब होकर नहीं। क्योंकि प्रतिबिंब तो शून्य होता है पर जीवात्मा और परमात्मा की भिन्न-भिन्न सत्य सत्ता है एक जीवात्मा कर्त्ता और दुःख-सुख भोगता है और दूसरा परमात्मा साक्षीरूप होकर उसके कर्मो को देखता है और उसके कर्मानुसार दुःख-सुख देता है। यदि जीव की भिन्न नित्य सत्ता न मानी जाये तो स्वामी शिवानन्द की तरह आपको भी ब्रह्म को पापी कहना पड़ेगा। जीव को ब्रह्म से भिन्न एक अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान्, बन्धन और मुक्त अवस्थाओं में आने जाने वाली,

नित्य चैतन्य सत्ता मानने में क्या आपत्ति है? शास्त्र तो जीवात्मा को "अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे" क० उ० १ । २ । १८॥

नित्य शाश्वत और पुरातन और नाश के होने के बाद भी इसकी अमर सत्ता को मानते हैं।

जीवात्मा की सत्ता भिन्न और नित्य मानने से परमात्मा के "अद्वितीय" होने में तो कोई बाधा नहीं पड़ती। बल्कि परमात्मा अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से लगने वाले दोषों से बच जाता है याने उसको पाप कर्मोंका कर्त्ता और दुःख-सुख भोक्ता कहना नहीं पड़ता। कर्त्ता भोक्ता जीव हो जाता है और परमात्मा के न्यायकारी, दयालु और कर्माध्यक्ष होने के गुण भी सार्थक हो जाते हैं। वरना प्रश्न हो जाता है कि परमात्मा किस पर दया करता है, किस के कर्मों की अध्यक्षता करता है, और किसका न्याय करता है? कर्माध्यक्षता, न्याय और दया किसी चैतन्य सत्ता पर की जाती है जो न्यायकर्त्ता, अध्यक्ष और दयालु की सत्ता से भिन्न होती है। क्या कभी कोई चेतन मनुष्य (बिंब) दर्पण में अपने प्रतिबिंब (अक्स) पर दया करता है या उसके कर्मों की उसको सजा देता है? प्रतिबिंब तो शून्य होता है। शून्य चीज न स्वयं कुछ कर सकती है न जड़ दर्पण उससे कोई पाप पुण्य का कर्म करा सकता है क्योंकि कर्त्ता और भोक्ता एक चेतन सत्ता ही हो सकती है।

प्रतिबिंब शून्य है और दर्पण जड़ है इसलिये दोनों में से एक भी कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकता। इसी तरह चेतन ब्रह्म (बिंब) का अन्तःकरण (दर्पण) में जो प्रतिबिंब (जीव) होगा वह जीव शून्य होगा इसलिये शून्य जीव और जड़ अन्तःकरण दोनों में से एक भी कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता।

अब या तो चेतन ब्रह्म को ही पाप कर्त्ता और भोक्ता

मानना पड़ेगा या कर्त्ता भोक्ता जीवात्मा की ब्रह्म से भिन्न एक अनादि चेतन सत्ता को मानना पड़ेगा। आशा है इस पर आप अच्छी तरह विचार करेंगे ।

आपने अन्तःकरण को दर्पण इसलिये कहा है ताकि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सिद्ध हो जाये। यदि जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब (अक्स) ही सिद्ध करना था तो आप अन्तःकरण को दर्पण की बजाय एक (Lens) आतशी शीशा भी कह सकते हैं। इससे भी प्रतिबिम्ब (अक्स) बन सकता है। इसमें से जब सूर्य का सामान्य प्रकाश(बिम्ब)निकलकर पीछे परदे पर इसका प्रतिबिम्ब पड़ेगा उसको आप विशेष प्रकाश कह सकते हैं। इस विशेष प्रकाश (प्रतिबिम्ब) में जलाने की शक्ति पैदा हो जाती है। यह जलाने की शक्ति दर्पण के प्रतिबिम्ब में नहीं होती। परन्तु (Lens) से जो प्रतिबिंब बनता है उसमें यह शक्ति पैदा हो जाती है। इस तरह सामान्य प्रकाश (बिंब) से विशेष प्रकाश (प्रतिबिंब) ज्यादा शक्तिवाला हो जाता है। इसी तरह "सामान्य चेतन" ब्रह्म (बिंब) का प्रतिब्रिब (अक्स) अन्तःकरण रूपी Lens के पीछे बनेगा तो यह "विशेष चेतन" (जीव) सामान्य चेतन (ब्रह्म) से ज्यादा शक्ति वाला होगा। इस विशेष चेतन(जीव) को यदि आप कर्त्ता मानोगे तो ज्यादा शक्ति वाले पाप कर्मोंके कर्त्ता(जीव)को ब्रह्म सजा कैसे दे सकेगा क्योंकि पापी जीव ब्रह्म से ज्यादा शक्ति वाला हो गया है। आपका ब्रह्म उलझन में फंस गया। अब जीव को पाप कर्मों की सजा ही नहीं दे सकता। अब अद्वैतवादी भी उलझन में फंस जायेगा और कहेगा कि मैं Lens से गुजर कर चेतन ब्रह्म का बना हुआ प्रतिबिंब जीव नहीं मानता क्योंकि इस तरह जीव ब्रह्म से ज्यादा शक्ति वाला हो जायेगा और ब्रह्म के कण्ट्रोल(Control)में न रहेगा। मैं तो अन्तःकरण को दर्पण ही

मानूंगा Lens नहीं क्योंकि Lens मानने से हमारा ब्रह्म जीव से कमजोर हो जायेगा।

देखा! वेद के सिद्धान्त के अनुसार जीव की एक अनादि सत्ता ब्रह्म से भिन्न न मानकर आपके कल्पित जीव का विषय हास्यास्पद बन गया है।

पृष्ठ ३३ पर आपने लिखा है "दो सत्य चेतन तो एक काल व एक देश में रह नहीं सकते।" इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म चीज स्थूल चीज में व्यापक होकर दोनों एक ही काल और देश (जगह) में रह सकते हैं। उदाहरण—पीतल की तार और उसमें विद्युत (बिजली) दोनों एक ही काल और देश में रहते हैं सत्य चेतन जीव से सत्य चेतन ब्रह्म अति सूक्ष्म है इसलिये व्याप्य जीव में ब्रह्म व्यापक होकर दोनों एक ही काल और एक ही देश (जगह) हृदय में रहते हैं।

पृष्ठ ३६ पर आपने लिखा है "जल और तरंगमें सत्ता दृष्टि से कोई भेद नहीं है उसी प्रकार उसमें (ब्रह्म में) और तुझ में (जीव में) कोई भेद नहीं।" इसका उत्तर यह है:—

(१) तरंगें एक देशी भौतिक समुद्र में पैदा हुआ करती हैं। सर्वव्यापक ब्रह्म रूपी समुद्र में नहीं। ब्रह्म से बाहर जब कोई जगह ही नहीं तो तरंग उठकर जायेगी कहां? (२) वायु समुद्र को गति देता है तो तरंग उठती है। ब्रह्म में से तरंग पैदा करने के लिये ब्रह्म को गति कौन देता है? जो गति में न आने वाले ब्रह्म को गति दे सकता है वह ब्रह्म से बहुत ज्यादा शक्ति वाला होगा। (३) समुद्र के पानी और तरंग के पानी में गुणों की समानता होनी चाहिये। परन्तु ब्रह्म और जीव के बहुत से गुणों में समानता नहीं।

पृष्ठ ३६ पर आपने लिखा है "प्रज्ञानं ब्रह्म" अर्थात् "वह ब्रह्म तू है।" स्वामी जी! "प्रज्ञानं ब्रह्म" के यह अर्थ तो हो

सकते हैं कि ज्ञान स्वरूप चेतन ब्रह्म है परन्तु आपने इसके अर्थ यह कैसे कर लिये कि चेतन अल्पज्ञ जीव ज्ञान स्वरूप ब्रह्म है। अल्पज्ञ चेतन को आप किस तरह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म कह सकते हैं ?

पृष्ठ ३६ पर आपने लिखा है "इदं ब्रह्म इदं क्षत्रं इमे लोका इमे देवाः। इमानि भूतानि इदं सर्वं यद् अयं आत्मा ॥"

अर्थात्"यह सर्व ब्रह्म स्वरूप है,यह सब आत्मा स्वरूप है।"

पूज्य स्वामी जी ! शास्त्रों के अनुकूल तो इसके अर्थ ब्रह्म की सर्वव्यापकता को जाहिर करते हैं। इसका तात्पर्य (मतलब) यह है कि इस ब्रह्मांड में यह जो कुछ भी रंग रूप वाले पदार्थ हैं उन सब में वह परम-आत्मा सब की आत्मा होकर सब में व्यापक है और उन सबके रूप रंगों को धारण किये हुए हैं। यह सब कुछ ब्रह्म नहीं अपितु इन सब में वह व्यापक होकर इन सब रूप रंगों में अपने आपको जाहिर कर रहा है। ऋषि परमात्मा को अनेक नामों से पुकारते हैं और अनेक रूपों में देखते हैं।

जिन ऋषियों के ज्ञान चक्षु खुल जाते हैं उनको वह सर्वत्र व्यापक आत्मा सब भूत प्राणियों में नजर आने लगता है। ऐसे प्रज्ञाचक्षु वाले ऋषियों का ही यह कहना सार्थक हो जाता है 'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।"

इसका अर्थ यह नहीं होता कि यह सब कुछ ब्रह्म ही है बल्कि इन प्रज्ञाचक्षु वालों को सब कुछ में वह सर्वत्र व्यापक आत्मा (ब्रह्म) ही नजर आता है।

पृष्ठ ३७ पर आपने लिखा है कि गुरुदेव अपने शिष्य को कह रहे हैं:- हे शिष्य ! वह सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म तू है। वह "मैं हूं", मैं वह (ब्रह्म) हूँ, "ऐसी भावना किया करो।" पूज्य स्वामी जी ! इसमें विचारणीय बात यह है कि यदि गुरु

अपने शिष्य को सचमुच ब्रह्म समझता तो फिर सर्वज्ञ, सर्व ज्ञाता ब्रह्म को यह उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी कि "तू सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म है" ? क्या ब्रह्म अज्ञानी है कि वह अपने आपको नहीं जानता कि वह ब्रह्म है ? फिर गुरु भी ब्रह्म है और चेला भी ब्रह्म है। ब्रह्म ब्रह्म को समझा रहा है कि तू ब्रह्म है। मालूम होता है कि दोनों अज्ञानी हैं। शिष्य का तो मालूम ही नहीं कि वह ब्रह्म है और गुरु अपने अज्ञानी शिष्य को ब्रह्म समझ रहा है। इसलिये दोनों ही अज्ञानी हुए।

फिर गुरु अपने शिष्य को ब्रह्म समझकर नमस्कार करता है इस उद्देश्य से कि शिष्य का यह ज्ञान दृढ़ हो जाये कि वह साक्षी ब्रह्म है। गुरु अपने शिष्य को सर्वज्ञ, सर्वज्ञाता ब्रह्म मान कर भी उसके ज्ञान को दृढ़ करने की कोशिश कर रहा है। कैसी आश्चर्य की बात है। फिर गुरु भी ब्रह्म और चेला भी ब्रह्म, ब्रह्म ब्रह्म को नमस्कार कर रहा है। ब्रह्म तो एक ही है, यह दो ब्रह्म कहां से आगये ? मालूम होता है यह दोनों सत्य, साक्षी सामान्य चेतन (ब्रह्म) नहीं। यह दोनों आपके सिद्धान्तानुसार सत्य, साक्षी, सामान्य चेतन (ब्रह्म) के अक्स याने विशेष चेतन (कल्पित, असत्य जीव हैं)।

तो फिर यह गुरु-शिष्य का वार्तालाप भी कल्पित याने झूठा (असत्य)होगा। तो इस गुरु के उपदेश को जो उसने अपने शिष्य को दिया है झूठा ही समझना चाहिये।

पृष्ठ ३७ पर लिखा है: –

"त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत व कुमारी। त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि, त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)अथर्व १०।८।२७

अर्थात् तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार या कुमारी है और तू ही वृद्ध होकर डण्डे के सहारे चलता है तथा तू ही (प्रपञ्चरूप से) उत्पन्न होने पर अनेक रूप होकर भासता है।" स्वामी जी! इस में ब्रह्म और जीव का अभेद नहीं बताया गया। यह तो सब कुछ जीवात्मा के लिये लिखा गया है जो स्त्री के शरीर में स्त्री, पुरुष के शरीर में पुरुष है। कर्मों के अनुसार कभी कुमार कभी कुमारी बनता है। यही बच्चा जवान हो जाता है फिर वृद्ध होकर डण्डे के सहारे चलता है। यह सब कुछ ब्रह्म के लिये नहीं कहा गया। ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है इसलिये सब शरीरों में भी व्यापक है परन्तु यह शरीर ब्रह्म के लिये नहीं होता क्योंकि यह तो अपने तमाम कार्य विना शरीर के उपकरणों के ही कर सकता है। शरीरों के बनाने वाला भी यही है। यह शरीर जीवों के लिये बनाता है क्योंकि जीव विना शरीर के काम नहीं कर सकता। आंखों के विना देख नहीं सकता, कान के विना सुन नहीं सकता, टांगों के विना चल नहीं सकता, मन के विना संकल्प विकल्प नहीं कर सकता, बुद्धि के विना विचार नहीं कर सकता, चित्त के विना भूत काल की बातों को याद नहीं कर सकता, अहंकार के विना अपने आपको शरीर से भिन्न नहीं जान सकता याने अपने आपको जान नहीं सकता कि "मैं" शरीर से भिन्न चेतन आत्मा हूं। शरीर में जीव और ब्रह्म दोनों निवास करते हैं। जीव शरीर का मोहताज है। जब एक अन्धा कहता है कि मैं देख नहीं सकता तो कहने वाला कोई जड़ पदार्थ नहीं हो सकता। यह तो शरीर के अन्दर से चेतन आत्मा ही कह रहा है पर यह चेतन आत्मा परमात्मा (ब्रह्म) नहीं हो सकता क्योंकि वह तो आंखों के विना देख सकता है। यह चेतन आत्मा जीवात्मा ही हो सकता है जो विना आंखों के नहीं

देख सकता। यह शरीर बना ही जीवों केलिये है। इसलिये इस वेद मन्त्र में जो कुछ लिखा हुआ है वह इस शरीर में निवास करने वाले और इसका उपयोग करने वाले जीव के लिये लिखा हुआ है, ब्रह्म के लिये नहीं।

पृष्ठ ३८ पर आपने लिखा है "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्म भे कितवा उत:।" (आथर्वणिक ब्रह्म सूक्त) अर्थात् "ब्रह्म ही मल्लाह है, ब्रह्म ही दास है और ब्रह्म ही जुआरी, जुआ खेलने वाला है।" "सर्वरूप परमात्मा है।"

स्वामी जी! यदि आप मल्लाह को, दास को और जुआरी को ब्रह्म मानोगे तो ब्रह्म कर्ता हो जायेगा क्योंकि नाव चलाना सेवा करना और जुआ खेलना ब्रह्म ही का काम होगा, इस लिये ब्रह्म कर्त्ता हो जायेगा और कर्त्ता ही भोक्ता होता है। इस तरह ब्रह्म कर्त्ता और भोक्ता सिद्ध हो जायेगा जो कि आप के सिद्धांत के विरुद्ध है क्योंकि आप ब्रह्म को कर्त्ता और भोक्ता नहीं मानते। इस लिये आपको इस श्लोक का अर्थ वेद शास्त्रों के सिद्धान्त के अनुसार करना होगा – वह यह कि परमात्मा (ब्रह्म) मल्लाह, दास, जुआरी और सब प्राणिमात्र में साक्षीरूप में व्यापक है। जीव के कर्मों का अध्यक्ष है। कर्त्ता जीव है। जीव ही इस शरीर में रहकर नाव चलाता है। सेवा का कार्य करता है, जुआ खेलता है और सब पाप पुण्य कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता जीव ही है। इस लिये इस श्लोक का अर्थ यह करना होगा कि ब्रह्म सब में साक्षी रूप से व्यापक है। यदि इसका अर्थ यह करोगे कि मल्लाह, सेवक, जुआरी, व्यभिचारी, द्वेषी, कामी, क्रोधी अभिमानी, विषयी, भोगी, विलासी, शराबी, चोर, डाकू, घातक, मांसाहारी आदि सब ब्रह्म ही हैं तो फिर ब्रह्म को पापों का कर्त्ता और भोक्ता भी मानना पड़ेगा।

पृष्ठ ३८ पर आपने लिखा है कि:—

"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता । नान्य-दतोऽस्ति द्रष्ट नन्तृ विज्ञातृ ॥"

"मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह (इस जगत् में) **नानेव पश्यति ।"** बृहदारण्यक

अर्थात् इनके अतिरिक्त कोई दूसरा द्रष्टा, श्रोता या विज्ञाता नहीं है ।"

"जो ब्रह्म में अनेकपने को देखता है (जो जीव ब्रह्म में वास्तविक भेद मानता है)वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ।"

पूज्य स्वामी जी ! यह तो ठीक है कि परमात्मा(ब्रह्म) जैसा ब्रह्म के सदृश कोई और द्रष्टा, श्रोता या विज्ञाता नहीं क्योंकि यह बिना आंख के देखता है, और बिना कान के सुन सकता है, सर्वज्ञ होने से विज्ञाता है और जितने जीव हैं वह ब्रह्म जैसे द्रष्टा नहीं। क्योंकि बिना आंख (उपकरण) के वह देख नहीं सकते वह ब्रह्म जैसे श्रोता नहीं, क्योंकि बिना कान (उपकरण) के वह सुन नहीं सकते और वह ब्रह्म जैसे पूर्ण विज्ञाता भी नहीं हो सकते क्योंकि वह अल्पज्ञ हैं ब्रह्म सर्वज्ञ है। इसलिये यह तो ठीक है कि ब्रह्म के सदृश और कोई द्रष्टा, श्रोता और विज्ञाता नहीं। यदि यह कहो कि उसके अतिरिक्त श्रोता, द्रष्टा या ज्ञाता है ही नहीं यह कहना ठीक नहीं होता क्योंकि हम को दो चेतन द्रष्टा स्पष्ट मालूम होते हैं। एक अन्धे मनुष्य के अन्दर से चेतन आत्मा कहता है मैं कुछ नहीं देख सकता । डाक्टर ने आपरेशन कर दिया, आंखें ठीक हो गईं ।

अब वह कहता है मैं सब कुछ देखता हूं। यह चेतन आत्मा कौन है जो बिना आंखों के देख नहीं सकता (ब्रह्म तो बिना आंखों के द्रष्टा है) ?

यह है चेतन जीवात्मा (द्रष्टा) जिसको देखने के लिये आंखों के (उपकरणों) की आवश्यकता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि चेतन आत्मा दो हैं एक परमात्मा जो विना शरीर के उपकरणों के सब काम करता है और दूसरा जीवात्मा जो विना शरीर के उपकरणों के कुछ नहीं कर सकता। जीवात्मा सर्वज्ञाता नहीं परन्तु ज्ञाता जरूर है क्योंकि विना ब्रह्म के जाने मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि यजुः ३१। १८ में लिखा है:—

"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति"।

अर्थात् "उसको ही याने ब्रह्म को जानकर जीव मोक्ष को प्राप्त करता है।" जीव ज्ञाता होगा तब ही तो ब्रह्म को जानेगा। इसलिये जीव भी ज्ञाता तो है परन्तु ब्रह्म की तरह पूर्ण विज्ञाता नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है।

यह जो आपने बृहदारण्यक उ० ४।४। १९। से लिखा है:-

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

जिसका अर्थ आपने यह किया है "जो ब्रह्म में अनेक पने को देखता है (जो जीव ब्रह्म में वास्तविक भेद मानता है) वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है।" पूज्य स्वामी जी! इस का अर्थ तो यह है "मन से ही अनुद्रष्टव्य ब्रह्म है—श्रवण के अनन्तर मन से ही ब्रह्म का मनन करना चाहिये कि ('इह-ब्रह्मणि') ब्रह्म में नानापन नहीं है—इन्द्रियों से जो नानापन दीखता है गन्ध रस रूपस्पर्श शब्द यह नानापन ब्रह्म का नहीं,

यह तो प्रकृति का है किन्तु इस नानापन से अलग सब नानापन में एकरस और प्रकृति को नानारूप में कर देने वाला है।

वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त होता है जो उसमें नानापन ही को देखता है,नानापन के भोगों की अनुभूति में ही पड़ा रहता है।

अनेकपन प्रकृति में है ब्रह्म में नहीं। यह जो तैत्तिरीय-उपनिषद् में लिखा हुआ है :—

"सः अकामयत बहु स्याम प्रजायेय इति"।

अर्थात् "ब्रह्म ने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊं और प्रजा वाला हो जाऊं।" यहां बहुत हो जाने का अर्थ यह नहीं है कि अनेक ब्रह्म हो जावें या अनेक ब्रह्म हो गये किन्तु जगत् के कारण (प्रकृति) के नाना प्रकार के अनेक रंगरूप वाले पदार्थों को रचकर उनमें अनुप्रविष्ट होकर और उनके रंग रूपों को धारण करके अपने आप को अनेक रंग रूपों में जाहिर कर दिया और अनेक रूपों वाला कहा जाने लगा। इस प्रकार असंख्य वस्तुओं में अनुप्रविष्ट (व्यापक) होकर तद् रूप होकर वह (ब्रह्म) शब्द मात्र से अनेक रंग रूपों वाला कहा जाया करता है परन्तु इससे उसके एकत्व अथवा सब से पृथक्त्व में बाधा नहीं पहुंचती। वह सर्वभूतान्तरात्मा एक होने पर भी सब में व्यापक (प्रविष्ट हो कर प्रत्येक वस्तु के प्रतिरूप हो जाया करता है। परन्तु रहता सदैव उन वस्तुओं से पृथक् ही है। यही उसका बहुत हो जाना अथवा बहुत प्रजा वाला हो जाना है।

जो विवेकी, तत्त्व ज्ञानी, विप्र इस प्रकृति के अनेक रंग रूप वाले पदार्थों में उस ब्रह्म को ही नाना प्रकार के रूप रंगों को

धारण किये हुए देखते हैं और उस को जान लेते हैं वह जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। दूसरे शब्दों में जो विप्र (एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति) ब्रह्म को नाना प्रकार के रंग रूपों में देख लेते हैं वह मृत्यु को उलांघ जाते हैं, तैर जाते हैं।

ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति।

उसको जानकर मृत्यु को तैर जाता है। और जो अज्ञानी उसको (ब्रह्म को) प्रकृति के अनेक रूप रंगों वाले पदार्थों में नहीं देखता बल्कि प्रकृति के ही नानापन को देखता है और नानापन के प्राकृतिक भोगों की अनुभूति में ही पड़ा रहता है वह अज्ञानी मृत्यु से मृत्यु को पुनः पुनः प्राप्त होता है। वह मनुष्य बड़ा भाग्यवान् है जो प्रकृति के अनेकपने में एक व्यापक ब्रह्म को देखता है। अनेकपना प्रकृति में है ब्रह्म में नहीं। ब्रह्म तो एक है "स एष एक एकवृदेक एव"।

अथर्व० १३।४।२।२०।

अर्थात् वह ब्रह्म एक है। जो ब्रह्म में अनेकपने को देखता है यह उसकी भूल है। प्रकृति के पदार्थ अनेक हैं, जीव अनेक हैं, ब्रह्म तो एक है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के जो श्लोक आपने लिखकर उन की व्याख्या की है उन श्लोकों से तो जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही सिद्ध होती है, अभिन्नता नहीं।

पृष्ठ ३९ पर आपने एक शेर लिखा है:—

उठ गया पर्दा दुई का, दर्म्या से देख ले।
अब तेरी तस्वीर मैं हूँ, तू मेरी तस्वीर है॥

पूज्य स्वामी जी! इस शेर से यह तो सिद्ध नहीं होता कि

जीव और ब्रह्म की सत्ता एक ही है। इस से तो भिन्नता ही मालूम होती है।

(१) यह तो वार्तालाप ही दो के मध्य में हो रहा है। एक कह रहा है, दूसरा सुन रहा है। तेरे और मेरे शब्दों का प्रयोग दो के मध्य में ही होता है।

(२) जब दो व्यक्तियों में अति प्रेम होता है तो ऐसे शब्दों का उपयोग होता है। यह अति प्रेम की भावना को प्रकट करते हैं।

(३) पर्दा दो के मध्य में होता है। यदि एक ही हो तो पर्दा कहां ?

(४) भक्ति और प्रेम की पराकाष्ठा (हद) यही है कि प्रेमी अपने प्रियतम के प्रेम में इतना लवलीन हो जावे कि उसे अपनी सुध-बुध बाकी न रहे। यही ब्रह्म विद्या का अन्तिम पाठ है जिसमें जीव अपनी सत्ता कायम रखते हुए भी उससे बेसुध सा रहता है। और ध्येय (ब्रह्म) के सिवा कुछ भी उस की स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता । इसी अवस्था के लिये एक कवि ने कहा है ?

याद में उनकी ऐसे लीन (महव) हुए।
अपनी सुध बुध न रही कुछ बाकी ॥

इसी अवस्था को एक और कवि ने योगी से कहलाया है।

"मैं समझता था कि कुछ पता तेरा नहीं।
आनकर जब तू मिला तो अब पता मेरा नहीं ॥"

ऐसी अवस्था प्रेमी की हो जाती है। अपने आपको भूल जाता है और यह अनुभव करके कहता है :—

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।
तू ही तू, तू ही बस तू ही एक तू है ॥

यह तो प्रेमी और प्रियतम की बातें हैं। जो एक प्रेम करने वाला प्रेमी ही समझ सकता है। यदि अद्वैतवादी प्रेमी बनकर ब्रह्म को प्रियतम समझकर उससे प्रेम करते तो प्रेम की मस्ती (वजद) में आकर वह भी अपने प्रियतम से अपने प्रेम को जाहिर करने के लिये शायद इसी प्रकार के शब्द उपयोग में लाते —"अब तेरी तस्वीर मैं हूं तू मेरी तस्वीर है।" मगर वह बजाय प्रेमी बनने के खुद ही प्रियतम (ब्रह्म) बन बैठे हैं। इसलिये:—

"जो प्रियतम खुद ही बन बैठे वह प्रेम की बातें क्या जाने।"

यह जो शेर आपने लिखा है इसमें तो एक प्रेमी प्रेम की मस्ती में अपने प्रियतम (परमात्मा) से कह रहा है कि अब तू और मैं एक हो गये हैं। यह प्रेम की एकता है सत्ता की एकता नहीं। ऐसे प्रेम की भावना को जाहिर करने के लिये वेद भी प्रेमी जीव से अपने प्रियतम (परमात्मा) के लिये ऐसे ही शब्द कहलवाता है —

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम्

अर्थात् सुन्दर देव ! आशीर्वाद दे (यत् अहं त्वं स्याम्) जो मैं तू हो जाऊं (वा घ) अथवा (त्वं अहं स्याः) तू मैं हो जाये। ऋ० ८-४४-२३ आपके शेर से भी और इस वेद मन्त्र से भी जीव और ब्रह्म की भिन्नता ही जाहिर होती है। जीव प्रेमी है और ब्रह्म प्रियतम।

पृष्ठ ३६ पर आपने एक शेर लिखा हैं:—

"जर्रे-जर्रे में नुमाया हुस्ने आलमगीर है।
सैकड़ों नक्शे लेकिन एक ही तस्वीर है।"

स्वामी जी ! इस शेर से सारे संसार का ब्रह्म होना तो सिद्ध नहीं होता। इसके स्पष्ट अर्थ तो यह हैं कि वह सर्वत्र

व्यापक ब्रह्म प्रकृति के तमाम नक्शों में (प्रकृति से बने हुए पदार्थों में) व्यापक है। भिन्न रंग रूपों वाले पदार्थ तो अनेक हैं परन्तु जो उन सब पदार्थों के जर्रे-जर्रे में नुमाया हो रहा है वह एक ही ब्रह्म है। यदि आपके कथनानुसार (जाहिर) यह सब नक्शे (पदार्थ) स्वप्न मात्र याने झूठे हैं तो फिर यह शेर भी झूठा है और ब्रह्म का उनके जर्रे-जर्रे में व्यापक होना (नुमाया होना) भी झूठा है। हां यदि यह पदार्थ ब्रह्म से भिन्न एक सत्य सत्ता वाली प्रकृति से बने हुए हैं तब तो यह शेर ठीक है और सर्वव्यापकता को जाहिर करता है। निर्णय अब आप करें।

पृष्ठ ३९ पर आपने एक शेर लिखा है:—

इन्सान की बदबख्ती अन्दाजे से बाहर है।
कमबख्त खुदा होकर बन्दा नजर आता है॥

पूज्य स्वामी जी! जब इन्सान खुद खुदा ही है तो वह बंदा किस को नजर आता है? जिसको वह बन्दा नजर आता है वह जरूर खुदा से भिन्न कोई और ही होगा और जब "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" सब कुछ ब्रह्म ही है (खुदा ही है) तो फिर इस शेर के अनुसार खुदा ही कमबख्त होगा जो खुदा होकर अपने आपको बन्दा समझता है।

पृष्ठ ४० पर आपने लिखा है "इस प्रकार हे शिष्य! संतवाणी देववाणी व महात्माओं का सत्संग तुम प्रतिदिन सुनते रहोगे व मन इन्द्रियों पर संयम तथा करके मनन निदिध्यासन करते रहोगे तो तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जायेगा। फिर जीव ब्रह्म की एकता में कोई संशय नहीं रहेगा। इस प्रकार संशय व विपरीत भावना से रहित दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करके जीवन्मुक्ति का आनन्द लूटकर अन्त में

तथा

विदेह-मोक्षपद प्राप्त करके अपने मानव जीवन को सफल कर लोगे।"

पूज्य स्वामी जी ! यह वास्तविक स्वरूप का बोध किस को हो जायेगा ? ब्रह्म को तो अपने स्वरूप का बोध है ही। यदि जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता है तो फिर यह जीव भी ब्रह्म ही हुआ और ब्रह्म को तो अपने स्वरूप का बोध है ही। तो फिर यह गुरु अपने किस शिष्य को उपदेश कर रहा है "तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जायेगा ?" यदि आप कहो कि मनुष्य को, तो मनुष्य का शरीर तो जड़ है इसलिये यह उपदेश शरीर के अन्दर निवास करने वाले चेतन जीव के लिये ही हो सकता है और जीव को आप ब्रह्म मानते हैं, परन्तु ब्रह्म को ऐसे उपदेश की आवश्यकता नहीं हो सकती क्योंकि वह तो अपने वास्तविक स्वरूप को जानता है और न ही ब्रह्म का कोई उपदेशक हो सकता है। न ही ब्रह्म अपने स्वरूप भूल सकता है। कृपा करके स्पष्ट करें कि गुरु का यह उपदेश किस शिष्य के लिये है ? मालूम होता है कि वह गुरु भी और शिष्य भी स्वप्न के गुरु शिष्य हैं और यह उपदेश भी स्वप्न में ही दिया गया उपदेश है। क्योंकि आपके कथनानुसार जीव केवल स्वप्न में पैदा हुए पुत्र के समान है और स्वप्न में पैदा हुआ पुत्र काल्पनिक होता है। वास्तव में होता नहीं। It has got no existence जब जीव है ही नहीं तो बोध किसको होगा और जीव ब्रह्म की एकता में संशय किस को न रहेगा (ब्रह्म तो संशय रहित है) ? अपरोक्ष ब्रह्म ज्ञान से जीवन्मुक्ति किसकी होगी ? जब जीव भी कल्पित और बंधन भी कल्पित तो जीवन्मुक्ति किसकी होगी और जीवन्मुक्ति का आनन्द कौन लूटेगा, विदेह मोक्ष किसकी

होगी और मानव जीवन सफल किसका होगा ? कृपा करके स्पष्ट करें। जब जगत् मिथ्या है याने है ही नहीं तो फिर इन उपदेशों की क्या आवश्यकता है ? यह जो आपने लिखा हैं कि "तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप का बोध हो जायेगा" इसका तात्पर्य यह है कि जीव का स्वरूप तो अमरत्व है परन्तु जन्ममरण के चक्र में पड़ा हुआ यह शरीर के जन्ममरण को अपना ही जन्ममरण समझता है परन्तु शरीर के बन्धन से छूटकर मोक्षावस्था में उसको अपने वास्तविकस्वरूप (अमरत्व) का बोध हो जाता है।

जीव-ब्रह्म की एकता से आपका क्या अभिप्राय है ? एकता कई प्रकार की होती है।

१—सत्ता की एकता जिसमें सत्ता एक नाम अनेक।

२—जाति और स्वभाव से भी एकता का भाव होता है। जैसे घोड़ों में जाति और स्वाभाविक गुणों की एकता है पर घोड़ों की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

३—हाथी और घोड़े में भी पशुत्व की एकता है। जाति और गुणों की एकता नहीं और सत्ता भी भिन्न-भिन्न है।

४—विचारों से भी एकता होती है। विचारक भिन्न-भिन्न होते हैं।

५—एक ही देश के वासियों में भी एकता का भाव होता है। देश एक होता है और वासी अनेक होते हैं।

६—एक जाति वालों में भी एकता का भाव होता है।

७—एक परिवार में भी एकता का भाव होता है।

८—स्त्री-पुरुष के गुण कर्म स्वभाव में एकता होने से मनु महाराज उनको विवाह करने की आज्ञा देते हैं इनके गुण कर्म और स्वभाव की एकता से ही उनको गृहस्थाश्रम में

सफलता प्राप्त होती है।

९--प्रेम से भी एकता का भाव होता है। जब पति और पत्नी में अति प्रेम होता है तो वह प्रेम वश कहते हैं कि हम एक हैं। हम दो आत्मा एक ही शरीर में रहते हैं।

१०--मित्रों में भी एकता की भावना होती है।

११--प्रेमी और प्रियतम में भी एकता की भावना होती है।

१२--फूल भिन्न-भिन्न और कई प्रकार के होते हैं जब धागे में पिरोये जाते हैं तो फूलों की एक माला बन जाती है। उनमें एकता आ जाती है।

१३--भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भी एकता हो जाती है।

१४--भक्त और भगवान् में भी एकता का भाव होता है वरना भक्ति नहीं हो सकती।

१५—उपासक और उपास्य देव में भी एकता का भाव होता है वरना उपासना नहीं हो सकती।

१६--पिता-पुत्र में, भाइयों में, सम्बन्धियों में भी एकता होती है।

अब देखना यह है कि जीव में और ब्रह्म में एकता कैसी है ?

(१) इनमें सत्ता की एकता नहीं हो सकती क्योंकि सत्ता की एकता होने से तमाम गुणों की भी एकता होगी। परन्तु इनमें तमाम गुणों की एकता नहीं। ब्रह्म सर्वज्ञ है, जीव अल्पज्ञ है। ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पशक्तिवाला है। जीव कर्ता भोक्ता है, ब्रह्म साक्षी कर्माध्यक्ष और जीव को कर्मों का फल देने वाला है। ब्रह्म ज्ञान और आनन्द का भण्डार है, जीव को ज्ञान और आनन्द की आवश्यकता है।

जीव अपने कर्मों के कारण जन्म मरण के बन्धन में फंसा हुआ है, योगाभ्यास से इस बन्धन से मुक्त होता है ब्रह्म बन्धन-रहित मुक्त स्वरूप है। इसी प्रकार और भी कई गुणों में भेद है।

(२) इन दोनों में अंश और अंशी की एकता भी नहीं, क्योंकि जीव ब्रह्म का अंश नहीं जैसा कि शंकराचार्य जी कहते हैं :—

अंश इवांशो नहि निरवयवस्य मुख्योंऽशः सम्भवति।

अर्थात् यहां "अंश" का तात्पर्य है "अंश के समान"। क्योंकि जो चीज अवयव रहित है उसके अंश नहीं हो सकते इसलिये जीव ब्रह्म का अंश नहीं, उसके अंश के समान है। केवल महत्त्व और लघुत्व दर्शाने के लिये लघु जीव को महान् ब्रह्म के अंश के समान कहा जा सकता है।

जीवात्मा ब्रह्म का अंश भी नहीं हो सकता।

If soul is a part and parcel of almighty then how the soul was seperated from Him & why? Is it due to some reaction (प्रतिक्रिया) in God which cause the separation of soul from Him? If soul is accepted to be a part and parcel of god His attributes must be found in soul as well. When ब्रह्म is आनन्दस्वरूप (all Happinss) soul must also be आनन्द स्वरूप. Then why soul suffers sorrow & agony. Sufferer must be चेतन। जड़ प्रकृति प्राकृतिक पदार्थ can not be sufferer, चेतन ब्रह्म is आनन्द स्वरूप He too can not suffer sorrow and agony. so the only चेतन sufferer is जीवात्मा।

If soul is part & parcel of ब्रह्म then on what account of previous actions soul gets a new body because bejare Before

separation it was no where &was part & parcal of God? If so then to enter a body it must be separated from God & be given a body at random. This is not Justice.

अंश अवयवी वस्तु के होते हैं और अवयवी वस्तु नाशवान् होती है। परमात्मा अवयव रहित है इसलिये उसके अंश जीव नहीं हो सकते।

(३) जो एकता पानी की विन्दु की समुद्र से है वैसी एकता जीव की ब्रह्म से नहीं हो सकती। क्योंकि समुद्र का जल जल-विन्दुओं का समूहमात्र है जीवों के समूह को ब्रह्म नहीं कहते। H+O के मिलाने से जल की बूंदे पैदा होती हैं। इन बून्दों के समूह का नाम समुद्र हुआ। जिस तरह समुद्र से पहले जल बिन्दु थे और जल बिन्दुओं का समूह समुद्र कहलाया इसी तरह ब्रह्मरूपी समुद्रसे पहले जीव रूपी बिन्दुओं को मानना पड़ेगा और जीवों का समूह ही ब्रह्म कहलायेगा लेकिन ब्रह्म जीवों का समूह नहीं याने अनेक जीवों के मिलने से नहीं बना, वह तो, जीवों से भिन्न एक ही, एकरस अनादि अनन्त सत्ता है। इसलिये जो एकता जल बिन्दु की समुद्र से है वैसी एकता जीव की ब्रह्म से नहीं हो सकती। यह उपमा भी जीव और ब्रह्म की एकता बताने के लिये नहीं घटती केवल लघुत्व और महत्त्व दर्शाने के लिये कहा जा सकता है कि जीव महान् ब्रह्म के सामने समुद्र की एक जल बिन्दु के बराबर है।

(४) जीव और ब्रह्म की एकता समुद्र और उसकी लहर (तरंग) के समान भी नहीं हो सकती। क्योंकि जीव ब्रह्मरूपी बेअन्त-समुद्र की लहर नहीं हो सकता क्योंकि लहरें एक देशी भौतिक समुद्र में पैदा होती हैं ब्रह्म तो अभौतिक और सर्वत्र व्यापक है। फिर समुद्र और लहर के जल के गुणों में समानता

होतीहै परन्तु जीव और ब्रह्म के तमाम गुणों में समानतानहीं ।

(५) जीव और ब्रह्म में बिंब और प्रतिबिंब जैसी एकता भी नहीं हो सकती क्योंकि जीव ब्रह्म का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता । क्योंकि बिंब और प्रतिबिंब दोनों एक ही काल में और एक ही स्थान में नहीं हो सकते । परन्तु जीव और ब्रह्म दोनों ही अन्तःकरण में व्याप्य और व्यापक होकर निवास करते हैं। प्रतिबिंब शून्य होता है परन्तु जीव तो चेतन सत्ता है जो कर्त्ता भोक्ता और ज्ञाता है । यह ब्रह्म का प्रतिबिंब नहीं ।

(६) दोनों में जाति की एकता है। दो जातियां हैं एक अनात्म दूसरी आत्म । प्रकृति की अनात्म जाति है और जीवात्मा और परमात्मा (ब्रह्म) दोनों की आत्म जाति है। इसलिये इनमें जाति की एकता है ।

(७) कुछ गुणों की भी एकता है । दोनों सत् चित्, अनादि अनन्त(काल से) अजर, अमर, सूक्ष्म, निराकार है ।

(८) जीव ब्रह्म में पिता पुत्र माता-पुत्र के समान भी एकता है। परमात्मा जीवों की माता भी है और पिता भी, जैसा वेद में लिखा है: —

स नः पितेव सूनवे । ऋ० १ । १ । ६ ।

अर्थात् वह हमारे लिये इसी प्रकार दयालु है जैसे पुत्र के लिये पिता ।

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता। ऋ० ८ । १८ । ११

हे प्रभो ! तुम हमारे पिता भी हो और माता भी।

इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षाणो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।
ऋ० ७ । ३२ । २६ ।

हे ईश्वर! हमारे कामों को भरपूर कर जैसे पिता पुत्रों को करता है। हे उपास्य देव! हमारे इस मार्ग में हमको शिक्षा दे कि हम प्रकाश को प्राप्त हों!

(९) जीव ब्रह्म में वैसी एकता भी है जैसी सम्बन्धियों में होती है क्योंकि "स नो बन्धुः" (यजु० ३२-१०) वह हम जीवों का सम्बन्धी है।

(१०) जीव और ब्रह्म में राजा और प्रजा वाली भी एकता है क्योंकि "एक इत् राजा" (यजु० २३-३) वह हमारा राजा है।

(११) निकट अतिनिकट सम्बन्ध होने की एकता:—

त्वमस्माकं तव स्मसि। ऋ० ८। ९२। ३२

"तू हमारा है और हम तेरे हैं।" यह सम्बन्ध और एकता की पराकाष्ठा है। यहां सम्बन्ध और एकता की सब उपमायें समाप्त हो जाती हैं। जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध और एकता में इससे अधिक क्या कहना चाहिये समझ में नहीं आता।

सौन्दर्य वा आनन्द

इस विषय में पृष्ठ ४१ पर आपने लिखा है: —

"ऐ मन सारे संसार के सभी पदार्थों में जो आनन्द प्रतीत हो रहा है वह तुम्हारा ही स्वरूप है।"

स्वामी जी! मन तो जड़ है। जड़ वस्तु आनन्दस्वरूप नहीं हो सकती। अनन्दस्वरूप तो केवल परमात्मा ही है और चेतन जीव भी आनन्द का भिखारी है, उसको आनन्द की प्राप्ति आनन्द स्वरूप परमात्मा (ब्रह्म) से होती है जब मन को निर्विषय करके ध्यानावस्था बना ली जाती है। उस ध्यानावस्था में जब मन का कोई विषय नहीं रहता तो समाधि की अवस्था

बन जाती है। उस समय परमात्मा के आनन्द की झलक जीव को लगती है। परमात्मा जीवात्मा की अन्तरात्मा है इसलिये जीव को अपने अन्दर से ही आनन्द मिलता है परन्तु जब चित्त की एकाग्रता नहीं होती और मन विषयों में फंस जाता है तो जीव मृग की तरह अपने अन्दर में पड़े हुए कस्तूरी रूपी आनन्द को बाहर विषयों में ढूंढ़ता फिरता है।

पृष्ठ ४५ पर आपने लिखा है "ऐ मानव ! तू आनन्द को विषयों में कहां खोज रहा है ? अपने निज स्वरूप को पहचान। आनन्द तुम्हारी जान है। तू स्वयं आनन्द स्वरूप है। सुषुप्ति एवं समाधि में जहां किसी विषय का नामोनिशान भी नहीं होता वहां भी आनन्द की झलक लगती है। इस से सिद्ध होता है कि आनन्द विषयों में नहीं परन्तु आप स्वयं ही आनन्द-स्वरूप हैं।"

पूज्य स्वामी जी ! जीव आनन्दस्वरूप नहीं। यदि आनन्द-स्वरूप होता तो आनन्द की खोज में विषयों में न भटकता। आनन्दस्वरूप को आनन्द के खोजने की क्या आवश्यकता ? वेदान्त दर्शन में स्पष्ट लिखा हुआ है कि जीव आनन्द स्वरूप नहीं है। वेदान्त १-१-१६ में लिखा है "नेतरोऽनुपपत्तेः" इतरः=ब्रह्म से भिन्न जो जीवात्मा है, वह न=आनन्दमय नहीं हो सकता अनुपपत्ते=क्योंकि पूर्वापर के वर्णन से यह बात सिद्ध नहीं होती।

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति ॥

छांदोग्य ७ । २३ । १

अनन्त (परमात्मा) में सुख है अल्प (जीवात्मा) में सुख नहीं।

स्वामी शंकराचार्य भी जीव को आनन्द मय नहीं कहते।

वह लिखते हैं "न जीव आनन्दमय शब्दो नाभिधीयते।" जीव को आनन्दमय नहीं कह सकते।

सूर्य प्रकाशस्वरूप है इसलिये उसको प्रकाश के खोज करने को कोई आवश्यकता नहीं। जीव भी यदि आनन्दस्वरूप होता तो उसको आनन्द के खोज करने की आवश्यकता न होती। फिर समाधि में जिसको आनन्द की झलक लगती है वह आनन्द-स्वरूप नहीं हो सकता। यह जो आपने लिखा है "आनन्द तुम्हारी जान है" यह तो आपने ठीक ही लिखा है क्योंकि परमात्मा जीवात्मा की आत्मा याने जान है। जैसे शरीर की आत्मा (जीवात्मा) शरीर की जान है। इसी तरह जीवात्मा की आत्मा (परमात्मा)जीवात्मा की जान है। जैसा कि शतपथ ब्रा० १४-५-३० में लिखा है कि परमात्मा जीवात्मा की अन्तरात्मा है।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यम आत्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥"

उस अपनी अन्तर्यामी आत्मा से (जो आनन्द स्वरूप है) जीवात्मा को आनन्द की झलक आती है। सुषुप्ति एवं समाधि में जो आनन्द की झलक आती है वह आनन्द जीव का अपना नहीं जीव को तो आनन्द की झलक लगती है। वह आनन्द की झलक कहां से आती है ? वह आनन्द के भण्डार, आनन्द स्वरूप परमात्मा से आती है ? जो चीज आती है वह अपनी नहीं होती। जीव को जब आनन्द की झलक आती है तो आनन्द उसका अपना नहीं हो सकता। इसलिये वह आनन्दस्वरूप नहीं हो सकता। आनन्दस्वरूप उसकी

अन्तरात्मा परमात्मा ही है जिससे उसको आनन्द की झलक लगती है। यदि आनन्द उसका अपना स्वरूप होता तो वह आनन्द की खोज विषयों में न करता क्योंकि स्वरूप कभी समाप्त नहीं होता। जीव को आनन्द चाहिये वह आनन्द की तलाश बाहर विषयों में करता है। पर दुनिया की कोई वस्तु भी आनन्द स्वरूप नहीं। जब वह आनन्द की खोज में लग जाता है और जिस-जिस वस्तु से उसको आनन्द की प्राप्ति नहीं होती तो वह कहता जाता है इसको भी हटाओ, इसको भी हटाओ, इसको भी हटाओ········। इस तरह वह सब वस्तुओं पर हटाओ का तिलक लगा देता है। जिसका मतलब यह हुआ कि उसको दुनिया में कोई पदार्थ भी आनन्दस्वरूप नहीं मिलता जिससे वह चिरस्थायी आनन्द को प्राप्त कर सके। इस पर आपने पृष्ठ ५१ पर लिखा है "इस प्रकार स्वयं आत्मस्वरूप को छोड़कर बाकी सब पर हटाओ का तिलक लगा देता है। इससे सिद्ध हुआ कि केवल आत्मा ही आनन्द-स्वरूप है। आत्मा के सिवाय कोई भी आनन्दस्वरूप नहीं।" इस पर विचारणीय बात यह है कि "आत्मा के सिवाय कोई भी आनन्दस्वरूप नहीं है।" इसमें यदि आत्मा के अर्थ जीवात्मा लें तो जीवात्मा को तो आनन्द स्वरूप नहीं कह सकते क्योंकि यदि वह आनन्द स्वरूप होता तो आनन्द की खोज में मारा-मारा क्यों भटकता। वह तो आनन्द की खोज करता है और जब उसको किसी भी चीज में आनन्द नहीं मिलता तो कहता है इन सबको हटाओ। परन्तु जब योगा-भ्यास करके समाधिस्थ हो जाता है तो उस समय जो उसको अपने अन्तरात्मा (परमात्मा) आनन्द स्वरूप से आनन्द मिलता है उसके लिये 'हटाओ' नहीं कहता अपितु यह कहता है कि

संसार के सब पदार्थों से तो मुक्त हो जाऊं पर "मुक्षीय मा अमृतात् (ऋ० ७।४६।१२) परमात्मा के अमृतरूपी आनन्द से युक्त रहूं।

तो आपके कथन में "आत्मा" का अभिप्राय परमात्मा ही हो सकता है जो कि आनन्द स्वरूप है। जीव तो आनन्द का भिखारी है। आनन्द के "भिखारी" को मुमुक्षु को आनन्दस्वरूप आनन्दका भण्डार किस तरह कह सकते हैं। यजुर्वेद २१-१ में लिखा है—

इमं मे वरुणश्रुधी हवमद्या च मृडय। त्वामवस्युराचके॥

अर्थात् (वरुण) हे वरुण! (मे) मेरी (इमं) इस हवं) पुकार को (श्रुधी) सुन लो। (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो (त्वां अवस्युः) मैं तुम्हारी शरण में आया हुआ (आचके) प्रार्थना कर रहा हूं।" हे प्रभु! आज तो इस चिरकांक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो। चिरकाल के व्यथित व्याकुल को सुखी कर दो। पुकार मचाते-मचाते बहुत दिन हो चुके। अब आनन्दमय गोद में बिठाकर आनन्दित कर दो"। यदि जीव आनन्दस्वरूप होता तो ऐसी प्रार्थना न करता? वह आनन्दशून्य है।

पृष्ठ ५१ पर आपने लिखा है "हम प्यार उसी से करते हैं जहां से आनन्द की झलक आती है" यह आपने बिलकुल ठीक लिखा है और वेद भी यही कहता है कि जीवात्मा का प्यारा परमात्मा ही है क्योंकि उसको आनन्द की प्राप्ति आनन्द से शून्य प्राकृतिक पदार्थों से नहीं हो सकती, वह आनन्दस्वरूप परमात्मा से ही हो सकती है। अथर्ववेद (१०।८।२५) में लिखा है:—

बालादेकमणीयस्कं उतैकं नैव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥

(एकं) एक (बालात्) बाल से भी (अणीयस्कं) बहुत अधिक सूक्ष्म, अणु है (उत) और (एकं) एक (न इव) नहीं की तरह (दृश्यते) दीखता है। (ततः) उससे परे (परिष्वजीयसी) उसे आलिंगन किये हुए, उसे व्यापे हुए, (देवता) जो देवता है (सा) वह (मम) मुझे (प्रिया) प्यारी है।

मुझमें प्रेम शक्ति किस प्रयोजन के लिये है ? मेरे प्रेम का असली भाजन (पात्र) कौन है ? यह खोजता हुआ जब मैं संसार को देखता हूँ तो इस संसार में केवल तीन तत्त्व ही पाता हूँ। तीन तत्त्वों में ही यह सब कुछ समाया हुआ देखता हूँ। इनमें से पहला तत्त्व बाल से भी बहुत अधिक सूक्ष्म है, बाल के अग्र भाग के सैकड़ों टुकड़े करते जायें अन्त में जो अविभाज्य टुकड़ा बचे वह अणु, परम अणु रूप यह तत्त्व है। प्रकृति के इन्हीं परमाणुओं से यह सब दृश्य जगत् बना है। इससे भी सूक्ष्म दूसरा तत्त्व है। पर इसकी सूक्ष्मता दूसरे प्रकार की है। इसकी किसी भौतिक वस्तु से तुलना नहीं की जा सकती यह तत्त्व ऐसा अद्भुत है कि यह नहीं के बराबर है। इस दूसरे तत्त्व से परे और इससे भी सूक्ष्म और इसे सब तरफ से आलिङ्गन किये हुए एक तीसरा तत्त्व है तीसरी देवता है। यह देवता मुझे प्रिय है। पहली प्रकृति देवता जड़ है और निरानन्द होने के कारण मुझे प्रिय नहीं हो सकती। दूसरी वस्तु "मैं" ही हूं (जीवात्मा) मैं तो स्वयं देखने वाला हूं तो मैं कैसे दीखूंगा मैं तो प्रेम करने वाला हूँ अतः प्रेम का विषय नहीं बन सकता। अतएव मेरे सिवाय मेरे सामने दो ही वस्तुयें रह जाती हैं, यह प्रकृति और वह सच्चिदानन्द रूपिणी परमात्मा देवता। इनमें से यह चैतन्य और आनन्द से शून्य प्रकृति मुझे कैसे प्रिय हो सकती है ? मेरा प्यारा तो स्वभावतः वह दूसरा

देवता है जो कि मेरी अन्तरात्मा है जो कि मेरे से परिष्वक्त हुआ मुझ में सदा व्यापा हुआ है।

जो कि मुझे आनन्द दे सकता है। मैं तो स्पष्ट देख रहा हूँ कि प्रकृति के बड़े से बड़े ऐश्वर्य तथा प्रकृति के दिव्य से दिव्य भोग दे सकने वाले यह अनगिनत पदार्थ सर्वथा आनन्द और ज्ञान प्रकाश से शून्य हैं। अतः मैं तो प्रकृति से हट अपने उस प्यारे परम आत्मा की तरफ दौड़ता हूँ। मैं तो स्पष्ट देखता हूं कि अपने प्रेम द्वारा उसे पालेने पर मेरा सम्पूर्ण प्रेम चरितार्थ और कृतकृत्य हो जायेगा। परमात्मा जो कि मेरी अन्तर्यामी आत्मा है वही परम आनन्दस्वरूप है जो कि मुझे आनन्द दे सकता है। उसके सिवाय अन्य कोई भी आनन्दस्वरूप नहीं और हम जीव प्यार उसी से करते हैं जिससे आनन्द की प्राप्ति होती है। सबका और सबसे प्यारा होने के नाते मेरा परमात्मा ही आनन्द स्वरूप है।

आपने लिखा है 'हम सब स्वार्थी हैं।" यह ठीक है कि हम अपने स्वार्थ के लिये ही सब कुछ करते हैं। प्रश्न होता है कि वह स्वार्थी है कौन? जड़ पदार्थ तो स्वार्थी हो नहीं सकते। चेतन आत्मा ही स्वार्थी हो सकता है। चैतन्य आत्मा दो हैं— एक जीवात्मा दूसरा परमात्मा। परमात्मा तो स्वार्थी हो नहीं सकता क्योंकि स्वार्थी वह होता है जिसको किसी वस्तु की आवश्यकता होती है।

परमात्मा तो आवश्यकता से रहित है। वह जगत् की रचना अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये नहीं करता बल्कि जीवात्मा को अपने स्वाभाविक आनंदसे आनन्दित करने के लिये जगत् की रचना करता है जीवात्मा स्वार्थी है क्योंकि उसको आनन्द की आवश्यकता है। जीव सब से प्रेम करता है

अपने सुख के लिये। अपने स्वार्थ के लिये सबसे प्रेम करता है। जीवात्मा परमात्मा से भी प्रेम इस लिये करता है ताकि उसको आनन्द की प्राप्ति हो यह उसका "शुद्ध स्वार्थ" है। जिससे दूसरों का हित हो और अपने को आनन्द और शांति मिले वह भी शुद्ध स्वार्थ होता है। अशुद्ध स्वार्थ उसे कहते हैं जिससे दूसरों का अहित हो, दूसरे दुःखी हों और अपने को सुख मिल जाये। हमारा प्रेम स्वार्थयुक्त है और परमात्मा का जीवों से प्रेम स्वार्थ रहित है। जीव के कार्य इच्छा से होते हैं—इच्छा में स्वार्थ है परमात्मा के कार्य स्वाभाविकहैं इसलिये इच्छारहित और निस्स्वार्थ होते हैं।

पृष्ठ ५८ पर लिखा है "अतः अरी मैत्रेयी! आत्मा ही दर्शनीय है [अर्थात् मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष के लिये आत्मा का साक्षात्कार अवश्य करना चाहिये क्योंकि विना आत्म-दर्शन के मोक्ष नहीं होता"]

प्रश्न होता है कि दर्शन कौन करे और किसका ? या किस के दर्शन से किसका मोक्ष होता है ? या किसके दर्शन विना किस का मोक्ष नहीं होता ?

यदि ब्रह्म के सिवा और कोई है ही नहीं तो फिर इसका अर्थ यह होगा कि विना ब्रह्म के दर्शन के ब्रह्म का मोक्ष नहीं होता। ऐसा अर्थ करना एक हास्यास्पद याने हंसी की बात हो जायेगी। इसलिये जब तक आत्मा के दर्शन करने वाले और मोक्ष को प्राप्त करने वाले चेतन को परम आत्मा से भिन्न नहीं मानोगे इस का सही याने सत्य अर्थ नहीं हो सकता।

वह चैतन्य आत्मा, दर्शी और मुमुक्षु है जीवात्मा याने जीवात्मा का ही मोक्ष होता है परमात्मा के दर्शन करने से।

इसलिये जीवात्मा को अपने पुरुषार्थ से योगाभ्यास द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहिये। यदि कहो जीव और ब्रह्म की एक ही सत्ता है तो फिर ब्रह्म का ब्रह्म को साक्षात् करने के क्या माने (अर्थ) ? वह तो अपने आपको जानता है— वह तो वह है ही, साक्षात्कार किसका करे ?

पृष्ठ ५६ पर आपने लिखा है "आत्मा का दर्शन, श्रवण मनन और विज्ञान हो जाने पर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है, अर्थात् सारे ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप का अनुभव हो जाता है।"

प्रश्न होता है कि ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप का अनुभव किसको हो जाता है,जिसको अनुभव हो जाता है वह ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म को तो ब्रह्मांड के वास्तविक स्वरूप का अनुभव है। उसी ने तो अपने पूर्ण ज्ञान से अपनी सम्पूर्ण कला लगाकर पूर्ण ब्रह्मांड की रचना की है। इसके अनुभव करने की जिसको आवश्यकता है वह ब्रह्म से भिन्न ही एक और चैतन्य अल्पज्ञ आत्मा हो सकता है। वह है अल्पज्ञ जीवात्मा जो ब्रह्म की रचना (रचित ब्रह्मांड) को देख कर चकित हो जाता है और कहता है हे परमात्मा ! "चित्रं-चित्रं" (Wonderful) है तेरी रचना। उस पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा की पूर्ण रचना को अल्पज्ञ जीवात्मा तो पूरी तरह जान भी नहीं सकता। इस समय दुनिया के तमाम वैज्ञानिक (जो आपके मन्तव्य के अनुसार सब ब्रह्म ही हैं) बड़ी खोज में लगे हुए हैं परन्तु अभी तक चन्द्र लोक का हाल भी पूरी तरह मालूम नहीं कर सके (जो हमारी पृथ्वी से केवल २३८००० मील दूर है)। जिस ब्रह्मांड में असंख्यों सूर्य और पृथिवियां है जो अरबों मील दूर हैं उनको यह अल्पज्ञ जीव किस तरह जान सकते हैं ?

पृष्ठ ६३ पर इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि आनन्द

किसको आता है "आपने लिखा है कि "आनंद मन को आता है।" इस पर प्रश्न होता है कि मन तो जड़ है,जड़ वस्तु आनंद का अनुभव किस तरह कर सकती है ? सुखी दुःखी मन नहीं होता। यह जड़ मन चैतन्य जीवात्मा का साधन (उपकरण) है ससारी विषयों से दुःख सुख अनुभव करने का।इसलिये सुखी दुःखी जीवात्मा होता है। जो काम जीव की इच्छा के अनुकूल होता है उसमें जीव को सुख होता है और जो इसकी इच्छा के प्रतिकूल होता है उससे इसको दुःख होता है।

आपने लिखा है "मन की एकाग्रता के समय आनंन्द आता है।" यह आपने ठीक लिखा है परन्तु इस पर यह प्रश्न होता है कि मन की एकाग्रता के समय आनन्द किस को होता है ? यह आनन्द चैतन्य जीव को आता है। मन की एकाग्रता से जीवात्मा की वृत्ति सब ओर से हट कर एक जगह लग जाती है। इस तरह ध्यान की अवस्था बन जाती है। इस अवस्था में जीवात्मा को अपने आत्मा (परमात्मा) से आनन्द की झलक आती है। जब यह मन की एकाग्रता अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है तो ध्यानावस्था पक जाती है और समाधि की अवस्था बन जाती है। इस समाधि की अवस्था में जीव पर-त्मा के पूर्ण आनन्द का अनुभव करताहै। समाधि ध्यान से ऊंची अवस्था है। जैसे मसूरी की पहाड़ी पर चढ़ने लगो तो ठण्डी हवा की झलक आने लगती है। पहाड़ी की चोटी पर पहुँच कर पूरी ठंडक अनुभव होती है। इसी तरह योग की ध्यान की सीढ़ी पर पहुंचने से आनन्द की झलक लगनी शुरू हो जाती है। योग की चोटी की अवस्था याने समाधि की अवस्था में पहुंचकर पूरा आनन्द आने लगता है। आनन्द विषयों का नहीं, यह तो मन के एकाग्र होने की अवस्था (ध्यानावस्था) में परमात्मा के आनन्द की झलक जीव को लगती है। जब आप

मिठाई खाने लगते हैं तो आपका ध्यान मिठाई में लग जाता है (यह ध्यान मन के एकाग्र होने से लगता है)। आपको अब जो आनन्द आता है मिठाई खाने से, वह आनन्द मिठाई से नहीं आता बल्कि वह आनन्द परमात्मा के आनन्द की ही झलक होती है जो ध्यानावस्था के बनने पर आती है। किसी भी संसारी विषय में जब आपका ध्यान लगेगा तो आनन्द आयेगा। बिना ध्यान के आनन्द नहीं आता, अच्छे से अच्छा भोजन आप खा रहे हैं, अच्छे से अच्छा गाना आप सुन रहे हैं परन्तु आपका ध्यान यदि उसमें नहीं तो आनन्द नहीं आयेगा। इससे सिद्ध होता हैं कि आनन्द ध्यानावस्था में है विषयों में नहीं। पृष्ठ ६५ पर आपने लिखा है "विषय आनन्द स्वरूप नहीं हैं, आनन्दस्वरूप मैं ही हूँ।" यदि मैं जीवात्मा आनन्दस्वरूप होता तो आनन्द की तलाश विषयों में क्यों करता? वास्तव में सारे संसार के जीवों को आनन्दित करने वाला आनन्दस्वरूप आनन्द का भंडार परमात्मा ही है जैसा कि आपने स्वयं ही अपनी पुस्तक में लिखा है "एष ह्येवानन्दयति" अर्थात् यह आत्मदेव (परमात्मा) ही सबको आनन्दित करता है। यदि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है और सब ही आनन्द स्वरूप है, आत्मदेव के आनन्द से आनन्दित होने वाला ही कोई नहीं तो फिर शास्त्र का यह लिखना निरर्थक हो जाता है कि "एष ह्येवानन्दयति" "आत्म-देव ही सबको आनन्दित करता है।" वह सब कौन हैं जिसको वह आनन्दित करता है? वह सब चैतन्य आनन्द के भिखारी जीव ही तो हैं जिसकी तरफ वेद संकेत कर रहा है।

पृष्ठ ६८ पर आपने लिखा है "ऐसा अनुभव होने के बाद महापुरुष विषयों की गुलामी को छोड़कर अपने निज स्वरूप परम सुन्दर आनन्दस्वरूप में ही स्थित रहते हैं। हर हाल में

अलमस्त रहते हैं। यही जीवन मुक्ति की अवस्था है।"

इस पर प्रश्न होता है कि "यह महापुरुष कौन हैं? यह ब्रह्म तो हो नहीं सकते। यदि ब्रह्म होते तो इनको आनन्द के खोज करने की क्या आवश्यकता थी। ब्रह्म तो है ही आनन्द-स्वरूप। क्या आनन्द स्वरूप आनन्द की खोज करते हैं?" ऐसा नहीं हो सकता। इसलिये यह महापुरुष ब्रह्म से भिन्न आनन्द के भिखारी चैतन्य जीव हैं। इन जीवों को महापुरुष इसलिये कहा गया है क्योंकि इनको ज्ञान हो गया है कि आनन्द विषयों में नहीं। आनन्द का भंडार इनकी अपनी अन्तरात्मा (परमात्मा) है। जीवन मुक्ति की अवस्था का जो आपने लिखा है यह अवस्था जीवों की होती है परमात्मा (ब्रह्म) तो मुक्त स्वरूप है।

पृष्ठ६८ के अन्त में आपने लिखा है "विमुक्तश्च विमुच्यते" "ऐसा जीवन मुक्त ही विदेह मोक्ष को प्राप्त करके अपना मनुष्य जन्म सफल कर लेता है।" प्रश्न होता है कि जीवन-मुक्त कौन होता है? ब्रह्म या जीव? विदेह मोक्ष का अर्थ है शरीर से मुक्त हो जाना शरीर के बंधन में कौन था और जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थसे इस शरीर के बधनसे मुक्त होकर वह कहां चला जाता है और इसके जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ और तप का फल परमात्मा इसको क्या देता है? वेदांत दर्शन तो कहता है कि जीवात्मा शरीर से मुक्त होकर मोक्षावस्था में ब्रह्मानन्द को भोगता है परन्तु आपका सरल वेदान्त कहता है कि अन्तःकरण के अन्त के साथ जीवात्मा का भी अन्त हो जाता है। प्रश्न होता है कि जीव का मनुष्य-जन्म सफल कैसे हुआ? इसको निष्फल तो कह सकते हैं।

सफल नहीं कह सकते क्योंकि जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ और तप का फल तो उसको मिलता ही नहीं क्योंकि जब फल

मिलने का समय आता है तो आपके कथनानुसार शरीर के अन्त के साथ उसका भी अन्त हो जाता है। यह परमात्मा का कितना अन्याय है उसके साथ कि जन्म-जन्मांतर उससे पुरुषार्थ करवाकर जब फल देने का समय आता है तो शरीर के साथ उसका भी अन्त कर देता है। उसका मनुष्य-जन्म तो निष्फल हो जाता है और आप निष्फल होने को सफल होना कहते हैं। पूज्य स्वामी जी! परमात्मा अन्यायकारी नहीं। वह शरीर के साथ जीव का अन्त नहीं करता। जीव तो ब्रह्म से भिन्न एक नित्य, अनादि अनन्त सत्ता है। शरीर के अन्त के साथ उसका अन्त नहीं हो जाता। मोक्षावस्था में भी उसकी सत्ता बनी रहती है और वह मोक्षकाल में ब्रह्मानन्द को भोगता है। देखो वेदांत दर्शन ४-४-२१। जहां स्पष्ट लिखा हुआ है कि मुक्त जीव मोक्ष अवस्था में आनन्द को भोगता है। यदि आपके कथनानुसार जीव का अन्त हो जाता है तो आनन्द कौन भोगता है? जीव का मनुष्य-जन्म तो सफल हो जाता है मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करके किन्तु आप तो उसके मनुष्य-जन्म का अन्त बता तो रहे हैं निष्फल क्योंकि उसके पुरुषार्थ का फल मोक्ष का आनन्द उसको नहीं मिलता क्योंकि फल मिलने से पहले ही उसका अन्त हो जाता है। इस निष्फलता को आप कहते हैं सफलता। कवि ने ठीक कहा है:—

"रंगी को नारंगी कहें बने दूध का खोया।
निष्फलता को सफलता कहें, देख वेदांती रोया॥

मोक्ष

इस प्रसंग में जो कुछ आपने लिखा है, अब इस पर विचार करते हैं॥

पृष्ठ ७१ पर आपने लिखा है "मन एव मनुष्याणां कारणं

बन्धमोक्षयो: ।" इसका अर्थ आपने यह किया है कि "बंधन में भी मन है और मोक्ष भी मन चाहता है, दुखी भी मन है और आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति भी मन चाहता है।" पूज्य स्वामी जी ! मन तो जड़ है, इसलिये मन का न बंधन होता है न मोक्ष और न यह दुःखी होता है और न यह आनन्द-स्वरूप परमात्मा का आनन्द चाहता है । यह तो चैतन्य जीवात्मा के बंधन और मोक्ष का कारण है। अपने बंधन और अपने मोक्ष का कारण नहीं। बंधन और मोक्ष जड़ चीज का नहीं, चैतन्य चीज का होता है ।

पृष्ठ ७४ पर आपने लिखा है "ब्रह्म ज्ञानी का सूक्ष्म शरीर भी शान्त हो जाने से आत्मा परमात्मा में लीन हो जाता है अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म से स्थिति हो जाती है।

प्रश्न होता है कि यह आत्मा कौन है जो परमात्मा (ब्रह्म) में लीन हो जाता है ? और परमात्मा में लीन हो जाने के क्या अर्थ हैं ? एक आत्मा के साथ परम लगा हुआ है उसको परम+आत्मा (परम आत्मा) याने बड़ी आत्मा कहते हैं और दूसरी आत्मा के साथ परम विशेषण नहीं लगा हुआ इसलिये यह छोटी आत्मा हुई। आत्मा चेतन और व्यापक होती है। यह हैं तो दोनों चैतन्य आत्मा परन्तु एक बड़ी है और एक छोटी। छोटी अल्पज्ञ, अल्पशक्तिवाली और केवल शरीर में व्यापक (एक देशी) और बड़ी सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक (सर्वदेशी) है। परमात्मा (बड़ी आत्मा) सबके अन्दर और बाहर व्यापक है। (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। अर्थात् सबके अन्दर और बाहर भी है। यजु ४० । ५)

वह छोटी आत्मा (जीवात्मा) के अन्दर भी व्यापक है। तमाम जीव उसके अन्दर स्थित हैं। जब वह परमात्मा के

अन्दर हमेशा ही स्थित है तो फिर यह कहना कि सूक्ष्म शरीर के शान्त हो जाने से आत्मा की परमात्मा में स्थिति हो जाती है अशुद्ध हो जाता है। क्या पहले परमात्मा में स्थित न थी वह तो उसमें हमेशा ही स्थित है। इसलिए लीन के अर्थ यह करना कि परमात्मा में स्थिति हो जाती है ठीक मालूम नहीं होता। लीन हो जाने के अर्थ यह हैं कि जीवात्मा जब शरीर के बंधन में होता है तो उसका ध्यान संसार के भौतिक पदार्थों में रहता है और वह उनमें निमग्न रहता है परन्तु जब शरीर के बंधन से मुक्त हो जाता है तो उसका सम्बन्ध संसार के भौतिक पदार्थों से टूट जाता है और मोक्ष को प्राप्त करके परमात्मा के आनन्द में लीन याने निमग्न हो जाता है, आनन्द में डूब जाता है। उस आनन्द को भोग कर आनन्दित हो जाता है।

परमात्मा में लीन होने के अर्थ यह नहीं हो सकते कि उस का अभाव हो जाता है या वह ब्रह्म से मिलकर ब्रह्म हो जाता है। ब्रह्म से तो वह हमेशा ही मिला हुआ है, हमेशा ही उसमें स्थित है। उनका तो व्याप्य-व्यापक का सम्बन्ध है। वह तो इतना उसके निकट है समीप है कि वह उससे कभी पृथक् हो ही नहीं सकता, उसको कभी छोड़ ही नहीं सकता।

जैसा कि अथर्व वेद १०।८।३२ में लिखा है:—

"अन्ति सन्तं न जहाति"।

वह इतना समीप है कि जीवात्मा उसको कभी छोड़ ही नहीं सकता। इस मन्त्र में दो आत्मायें हैं क्योंकि समीप शब्द बताता है कि यह दो हैं। यदि दूसरा न हो तो समीप किसके होगा? यह दो तो हैं पर कब से? जब से परमात्मा है। तब से वह उसके समीप है। जीव व्याप्यहै परमात्मा उसमें व्यापक है। परमात्मा अनादि काल से है। इसलिये जीव भी अनादि

काल से है। दोनों का व्याप्य व्यापक सम्बन्ध अनादि है। इस लिये अनादि काल से ही वह परमात्मा में स्थित है। जब तक मोक्ष नहीं होता वह शरीरसहित परमात्मा में स्थित रहता है। जब शरीर के बन्धन से मुक्त हो जाता है तो विना शरीर के परमात्मा में स्थित रहता है। मोक्ष से पहले रहता तो परमात्मा में ही है पर शरीर की इन्द्रियों और मन के कारण उसका सम्बन्ध संसार के भौतिक पदार्थों से होता है जिनमें वह आनन्द की खोज करते-करते उन्हीं में फंस जाता है और भौतिक विषयों में ही तल्लीन हो जाता है। इस तरह वह कई जन्म व्यर्थ खो देता है। आखिर जब उसको निजी अनुभव से और सत्संग में महात्माओं के उपदेशों से इस बात का ज्ञान हो जाताहैकि आनन्द भौतिक पदार्थों में नहीं है तो वह तत्त्वज्ञान से वैरागी हो जाता है। फिर वह छः प्रकार की सम्पत्ति—"शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान" से अपने आपको सम्पन्न करता है। फिर मुमुक्षु बन कर मोक्ष प्राप्त करने के लिये योगाभ्यास करता है।

योगाभ्यास से जब उसको विदेह मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तब उसकी परमात्मा में विना शरीर के स्थिति होती है। अब वह शरीर और संसार के भौतिक विषयों से मुक्त होकर परमात्मा से युक्त हो जाता है याने परमात्मा के आनन्द में लीन हो जाता है। उसके आनन्द के घूंट पीता जाता है पीता जाता है……। मोक्ष से पहले भी उसकी स्थिति थी ब्रह्म में लेकिन शरीर के साथ। उस समय वह शरीर के सम्बन्ध से दुनिया के विषय भोगों में लवलीन रहता है। मोक्ष के बाद जो स्थिति उसकी परमात्मा में होती है वह विना शरीर के होती है उस समय वह ब्रह्मानन्दके भोगने में लीन हो जाता है। जैसी मोक्ष से पहले जीव की सत्ता ब्रह्म से भिन्न थी वैसी ही जीव

की अपनी सत्ता मोक्षावस्था में भी बनी रहती है।

यदि "सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म से स्थिति हो जाती है" से आप का अभिप्राय यह हो कि जीव ब्रह्म की तरह सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है तो भी इस से यह सिद्ध नहीं होता कि जीव ब्रह्म ही हो जाता है या उसकी ब्रह्म से भिन्न अपनी सत्ता नहीं रहती। ब्रह्म की तरह सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाना और बात है और ब्रह्म ही हो जाना और बात है। जैसे लोहा अग्नि में स्थित होकर अग्निस्वरूप हो जाता है– याने अग्नि की तरह सुर्ख और गरम हो जाता है फिर भी उस की अपनी सत्ता अग्नि से भिन्न बनी रहती है। वह अग्निस्वरूप तो होजाताहै पर अग्नि ही नहीं हो जाता। इसकी अपनी भिन्न सत्ता बनी रहती है। भाव का अभाव कभी नहीं होता इसी तरह सत् चित् जीव मोक्षावस्था में ब्रह्म अग्नि में स्थित होकर जब ब्रह्म के आनन्द को भोगना शुरू कर देता है तो सत्चित् से सत्चित् आनन्दस्वरूप तो हो जाता है परन्तु सच्चिदानन्द स्वरूप सृष्टि का रचयिता, सर्वज्ञ सर्वव्यापक ब्रह्म नहीं हो सकता, इसकी अपनी अल्पज्ञ, परिच्छिन्न सत्ता ब्रह्म से भिन्न बनी रहती है। केवल आनन्द को भोगता है परन्तु जगत् की रचना आदि कार्य में उसका ब्रह्म के समान किसी भी अंश में अधिकार या सामर्थ्य नहीं है। देखो वेदांत दर्शन ४।४।२१

पृष्ठ ७५ पर आपने लिखा है:—

"जन्म मरण के चक्र में तो सूक्ष्म शरीर ही जाता है।"

पूज्य स्वामी जी! कर्त्ता और भोक्ता तो चैतन्य जीवात्मा ही हो सकता है। इसलिये जन्म मरण के चक्र में जड़ सूक्ष्म शरीर के साथ चैतन्य जीव भी जाता है कर्मों का फल भोगने के लिये। सूक्ष्म शरीर जीव के साथ और जीव सूक्ष्म शरीर के

साथ ही रहता है जब तक जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं करलेता।

पृष्ठ ७५ पर आप लिखते हैं कि "क्योंकि जब मन ही नहीं रहता तो उस आनन्द को कौन ग्रहण करेगा।"

पूज्य स्वामी जी! मन तो जड़ है। आनन्द की प्राप्ति के लिये तो चैतन्य जीवात्मा जन्म जन्मान्तर पुरुषार्थ करता है। मन तो जीवात्मा का एक साधन है, जीवात्मा की यात्रा समाप्त होने पर अन्तःकरण के साथ जड़ मन का भी अन्त हो जाता है क्योंकि यात्री जीव को इसकी अब आवश्यकता नहीं रहती। वह स्वयं अपनी निजी शक्ति से परमात्मा के आनन्द को मोक्ष-काल में भोगता है। सूक्ष्म शरीर के समाप्त होने के साथ जीव समाप्त नहीं हो जाता। यदि जीव भी समाप्त हो जाय (आप के कथनानुसार) तो ईश्वर की सृष्टि रचना, और जीव का जन्म जन्मान्तरों का पुरुषार्थ मोक्ष के आनन्द की प्राप्ति के लिये निरर्थक हो जाता है। वेदान्त दर्शन आपके मत का सम-र्थन नहीं करता। वह तो जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता मोक्ष-काल में भी मानता है और उसको आनन्द का भोक्ता भी मानता है।

पृष्ठ ७५ पर आप लिखते हैं:—

"मोक्ष स्वरूप ब्रह्मानन्द जड़ आनन्द नहीं है, अपितु चैतन्य है। चिदानन्द होने के नाते उसका अनुभव करने के लिये अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं क्योंकि सूर्य की गोलाई को रोशन करने के लिये किसी और प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहा करती क्योंकि सूर्य स्वयं प्रकाश स्वरूप है।" पूज्य स्वामी जी! यह तो ठीक है कि सूर्य की गोलाई को देखने के लिए देखने वाले को किसी और प्रकाश की आवश्यकता नहीं रहा करती। इसकी गोलाई को रोशन करने के लिये क्योंकि स्वयं प्रकाश सूर्यके प्रकाश से ही उसको देखलेता है। यदि देखने वाला

ही कोई न हो तो अन्य प्रकाशकी आवश्यकता या अनावश्यकता का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। हां, सूर्य से भिन्न इसको देखने वाला कोई और चैतन्य हो तब यह कहा जा सकता है कि सूर्य की गोलाई को देखने के लिये उसको किसी और प्रकाश की आवश्यकता नहीं। इसी तरह आपके कथनानुसार मोक्षस्वरूप, प्रकाश स्वरूप चैतन्य परमात्मा के आनन्द को अनुभव करने के लिये अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती। प्रश्न होता है कि जिसको इस आनन्द का अनुभव करने के लिये अन्य किसी जड़ या चेतन साधन की आवश्यकता नहीं वह अनुभव करने वाला चैतन्य कौन है ?

अनुभव करने वाले अनुभवी का होना तो आपने मान लिया है। यह तो आपके कथन से बिलकुल स्पष्ट है। यदि अनुभवी न होता तो आपका यह लिखना कि "आनन्द को अनुभव करने के लिये अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं" निरर्थक हो जाता।

यदि अनुभवी नहीं तो अनुभव नहीं होगा और जब अनुभव ही न होगा तो अनुभव करने के लिये अन्य साधन की आवश्यकता के होने या न होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता। जब आपने आनन्द का अनुभव होना मान लिया है तो विना अनुभवी के तो अनुभव हो नहीं सकता। इसलिये अनुभवी है और जरूर है। वह अनुभवी चैतन्य कौन है ? वह है जीवात्मा जो मोक्ष काल में परमात्मा के आनन्द का अनुभव करता है याने भोगता है। देखो वेदांत दर्शन ४।४।२१।

यदि परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके आनन्दित होने वाला कोई न होता तो परमात्मा का आनन्द का स्वरूप आनन्द का भण्डार होना या न होना बराबर था, निरर्थक था। जैसे यदि एक डाक्टर को डाक्टरी का पूर्ण ज्ञान हो परन्तु

बीमार कोई भी न हो तो उस डाक्टर का होना या न होना बराबर होगा, निरर्थक होगा ।

आपके कथन से यह तो सिद्ध हो गया कि परमात्मा के आनन्द का अनुभव होताहै और अनुभव करने के लिये अनुभवी का होना आवश्यक है । वह अनुभवी है, आनन्द का भिखारी चैतन्य जीवात्मा । अब प्रश्न यह होता है कि जीवात्मा को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने के लिये अन्य साधन की आवश्यकता क्यों नहीं ? जीव के पास जितने साधन हैं—मन इन्द्रियां आदि वह सब जड़ साधन हैं भौतिक जड़ पदार्थों को जानने के लिये । परन्तु परमात्मा का आनन्द भौतिक है इसलिये इन्द्रियां आदि वह सब जड़ साधन हैं भौतिक जड़ पदार्थों को जानने के लिये । परन्तु परमात्मा का आनन्द अभौतिक है इसलिये इन्द्रियों और मन आदि जड़ साधनों से उसका अनुभव नहीं कर सकता । जड़ गुड़ के माधुर्य और धन के वैभव का अनुभव तो चैतन्य जीवात्मा इन जड़ साधनों से कर सकता है परमात्मा के अभौतिक आनन्द का अनुभव अपनी निजी स्वाभाविक चैतन्य शक्ति से करता है और आनन्दित होता है । इस तरह परमात्मा का आनन्द स्वरूप आनन्द का भण्डार, आनन्द का दाता होना भी सार्थक हो जाता है ।

पृष्ठ ७७ पर आपने लिखा है "वह ब्रह्म स्वयं प्रकाश है इसलिये किसी का भी विषय (Object)(ज्ञेय) नहीं हो सकता ।" पूज्य स्वामी जी ! ब्रह्म जड़ मन आदि का विषय (ज्ञेय) तो नहीं हो सकता परन्तु चैतन्य जीव का विषय (Object) (ज्ञेय) तो है । वेदान्त दर्शन क्या है ? "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" ब्रह्म की जिज्ञासा ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाला जिज्ञासु कौन है ? ब्रह्म किसके जानने का विषय है ? यह जरूर किसी चैतन्य के जानने का विषय (Object) ज्ञेय है । यदि किसी के

जानने का विषय न होता तो वेदांत दर्शन लिखा ही न जाता। जानने वाला जिज्ञासु (ज्ञाता) चैतन्य जीव के सिवाय और कौन हो सकता है ? इसलिये जीव को ज्ञाता मानकर ब्रह्म को ज्ञेय मानना ही पड़ेगा यदि वह अवेद्य याने चैतन्य जीव के जानने योग्य न होता तो वेद क्यों कहता:—

(१) यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।"

ऋ० १। १६४। ३९॥

अर्थात् जो परमात्मा को नहीं जानता है वह वेद से क्या करेगा ? इस मन्त्र के अनुसार चैतन्य जीव जो ब्रह्म को जानता है वह ज्ञाता होगा और ब्रह्म ज्ञेय होगा।

(२) ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्थाविमुक्तये।

कैवल्य उप० ६

उसे जानकर मृत्यु को उल्लांघ जाता है। इससे इतर (अन्य) मुक्ति का मार्ग नहीं। इसमें जो चैतन्य जीव ब्रह्म को जानकर मृत्यु को उल्लांघ जाता है वह हुआ ज्ञाता और ब्रह्म हुआ ज्ञेय।

(३) तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति।

यजु० ३१। १८॥

अर्थात् "उसको ही जानकर मृत्यु को अतिक्रमण करता है।" जो चैतन्य जीव ब्रह्म को ही जानकर मृत्यु को अतिक्रमण करता है वह जीव हुआ ज्ञाता और ब्रह्म हुआ ज्ञेय।

(४) तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति।

अर्थात् उस एक के जानने से सब जाने जाते हैं। इसमें भी ब्रह्म को जानने वाला चैतन्य जीव हुआ ज्ञाता और ब्रह्म और सब कुछ जिसको वह जान लेता है हुए ज्ञेय।

(५) "यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।"

(मुण्ड० उपनिषद् ३। २। ९)

अर्थात् "जो परम ब्रह्म को जान लेता है ब्रह्म ही हो जाता है।" इसमें जो परम ब्रह्म को जानकर ब्रह्म हो जाता है वह है चैतन्य जीव ज्ञाता और परम ब्रह्म जिसको वह जान लेता है वह हुआ ज्ञेय।

इन वाक्यों से जीव का ज्ञाता और ब्रह्म का ज्ञेय होना स्पष्ट है।

पृष्ठ ७७ पर आपने लिखा है "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" (बृ० ३-४-१) अर्थात् "जो साक्षात् प्रत्यक्ष ब्रह्म" है। साक्षात् शब्द का अर्थ है जो मन आदि किसी का भी विषय (Object) (ज्ञेय) न हो। यदि वह आनन्द मन का अथवा किसी अन्य का विषय हो जावेगा तब वह स्वयंप्रकाश ही नहीं ठहरेगा परन्तु चूंकि वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म स्वयंप्रकाश है। इसलिये वह किसी का भी विषय नहीं)" स्वामीजी! यह तो उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट किया जा चुका है कि ब्रह्म चैतन्य जीव (ज्ञाता) के जानने का विषय (ज्ञेय) है। जड़ मन का विषय नहीं हो सकता। यह जो आपने (बृ० उपनिषद् ३-४-१) का श्लोक लिखा है:—

"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इसका अभिप्राय जीवात्मा से है ब्रह्म से नहीं।

उषस्त चाक्रायण बड़ा समझदार विद्वान् था। उसने याज्ञवल्क्य को चक्र में डालने के लिये ब्रह्म के साथ साक्षात् अपरोक्ष विशेषण लगाकर प्रश्न किया कि इसका व्याख्यान करो। याज्ञवल्क्य भी ऊंचे विद्वान् थे। उन्होंने समझ लिया कि ब्रह्म तो असाक्षात् परोक्ष है वह तो परमात्मा है। (साक्षात्-अपरोक्ष ब्रह्म जीवात्मा है असाक्षात् परोक्ष ब्रह्म परमात्मा है) "बृह उद्यमने" (तुदादिः) से ब्रह्म शब्द उद्यमी यत्नवान् चेतन के लिये है। ब्रह्म शब्द इस यौगिक प्रक्रिया से (विधि से)

यत्नवान् चेतन अर्थ में परमात्मा और जीवात्मा दोनों के लिये घटता है। यहां इसके साथ साक्षात् अपरोक्ष विशेषण होने से जीवात्मा समझना चाहिये। स्वामी शंकराचार्य ने भी यहां जीवात्मा के सम्बन्ध में ही इस प्रश्न को माना है।

आत्मशब्देन प्रत्यगात्मोच्यते।" (शंकर)

पृष्ठ ७८ पर आपने लिखा है "वास्तव में संसार में भी जहां आनन्द का अनुभव होता है वह भी मन नहीं करता। मन की एकाग्र वृत्ति केवल आनन्द स्वरूप परमात्मा को जो सर्वव्यापक है, उसको उतने अंश में अनावृत (बेपर्दा) करती है। जितने अंश में एकाग्रता होती है उतने अंश में वह आनन्द अनावृत होने पर जगमगा उठता है, वह आनन्द स्वरूप प्रकाश ब्रह्म तत्त्व है। एकाग्र वृत्ति केवल उसे बेपर्दा करती है। उस आनन्द को प्रकाशित नहीं करती। बेपर्दा पन जब हमेशा के लिये रह जाये ऐसी अवस्था का नाम है मोक्ष।"

पूज्य स्वामी जी! आपने लिखा है कि "संसार में भी जहां आनन्द अनुभव होता है।" इस पर प्रश्न होता है कि उस आनन्द को अनुभव करने वाला कौन है? यह तो आपने ठीक कहा है कि मन को अनुभव नहीं होता क्योंकि वह जड़ है। परन्तु जिस चेतन को इस संसार में आनन्द का अनुभव होता है वह चेतन कौन है? उसका नाम नहीं बताया। वह कोई चेतन होगा तो जरूर क्योंकि आपने लिखा है कि संसार में आनन्द का अनुभव तो होता है मगर जड़ मन को नहीं। वह कोई चेतन है जिसके सामने से मन की एकाग्र वृत्ति आनन्दस्वरूप परमात्मा को बेपर्दा कर देती है। पर्दा हमेशा दो द्रव्यों के बीच में होता है। यह तो आपने लिखा है कि पर्दा हट जाता है और ब्रह्मानन्द जगमगा उठता है किन्तु यह नहीं बताया कि पर्दा किसके सामने से हटता है और कौन

चेतन उस जगमगाते हुए ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है ? पर्दा हमेशा दो के मध्य होता है। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई वस्तु नहीं मानोगे तो फिर आपका यह लिखना कि ब्रह्मानन्द एकाग्र मनोवृत्ति से बेपर्दा हो जाता हैं सब झूठ हो जायेगा। जब कोई है ही नहीं तो बेपर्दा किसके सम्मुख (सामने) होगा ? यदि आपका कथन ठीक है कि वह बेपर्दा भी होता है और संसार में उसके आनन्द का अनुभव भी होता है तो फिर जरूर कोई चेतन द्रष्टा (अनुभवी) है जिसके सामने ब्रह्मानन्द बेपर्दा हो जाता है और वह बेपर्दा जगमगाते हुए ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। वह चेतन द्रष्टा, ज्ञाता, अनुभवी है जीवात्मा जो समाधि में अनावृत ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है जब तक समाधि की अवस्था में रहता है और मोक्ष अवस्था में तो उस आनन्द को निरन्तर भोगता रहता है।

यदि आप कहें कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म", याने सब कुछ ब्रह्म ही है, जीव भी ब्रह्म, परमात्मा भी ब्रह्म, और पर्दा भी ब्रह्म तो फिर ब्रह्म और ब्रह्म के मध्य ब्रह्म का ही पर्दा होगा और ब्रह्म के आगे से जब ब्रह्म का पर्दा हट जाता होगा तो ब्रह्म ही जगमगाते हुए बेपर्दा ब्रह्मानन्द का अनुभव करता होगा। और मोक्षावस्था में मुक्त ब्रह्म बेपर्दा ब्रह्मानन्द को निरन्तर भोगता रहता होगा। क्या आपके इस कथन को कोई भी बुद्धिमान् मानेगा ? क्या कभी सूर्य और सूर्य के मध्य सूर्य का पर्दा भी हुआ है ? कृपा करके निम्न लिखित बातों पर विचार करें :—

(१) पर्दा किस चीज का है और किस किस के बीच में है।

(२) संसार में और मोक्ष अवस्था में आनन्द का अनुभव कौन करता है ?

(३) पर्दा किसके आगे से हट जाता है ? यदि पर्दा है और

फिर हट जाता है तो जरूर किसी के आगे से हट जाता होगा।

(४) पर्दा हटने के बाद वह चेतन द्रष्टा कौन है जो बेपर्दा ब्रह्मानन्द को देखता है?

(५) पर्दा हटने का स्पष्ट अभिप्राय यह मालूम होता है कि किसी द्रष्टा के आगे से वह पर्दा हट जाता है और वह द्रष्टा बेपर्दा ब्रह्मानन्द के दर्शन करता है या अनुभव करता है वरना उसका बेपर्दा होना न होना बराबर है क्योंकि पर्दा हटे या न हटे वह तो पर्दे के पीछे भी जगमगा रहा है। पर्दे के हटने या न हटने से परमात्मा के लिये तो कोई अन्तर नहीं पड़ता। हां उसके लिये अवश्य अन्तर पड़ जाता है जिसके आगे से पर्दा हट जाता है क्योंकि वह उसके दर्शन का अभिलाषी (इच्छुक) उसके दर्शन कर लेता है। इसलिये ब्रह्मानन्द का बेपर्दा होना सार्थक (सफल) तब ही हो सकता है जब कि उसके दर्शन का अभिलाषी (इच्छुक) कोई हो और उसको दर्शन हो जायें।

(६) जीव का संसार में आने का लक्ष्य क्या है? ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है। ब्रह्म जो केवल आनन्द ही है "स्वर्यस्य च केवलं" (अथर्व० वेद), आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्(तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली ३/अनु० ६)अर्थात् "आनन्द ही ब्रह्म है।" और जीव जो मुमुक्षु है, जिसके मन में मोक्ष प्राप्त करके ब्रह्मानन्द को पाने की तीव्र इच्छा है (जो ब्रह्मानन्द का भिखारी है) यदि उसको जन्म-जन्मान्तरों के तप और पुरुषार्थ के बाद ब्रह्मानन्द के भोगने का अवसर नहीं मिलता तो उसका संसार में आना और पुरुषार्थ करना निरर्थक हो जाता है। परन्तु न्यायकारी दयालु परमात्मा के राज्य में ऐसा कभी नहीं हो सकता। जीव को आनन्द की प्राप्ति होती है जिसको वह मोक्ष काल में भोगता है, जैसा कि वेदांत दर्शन ४-४-२१ में लिखा है।

(७) ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी है। यदि ज्ञान है तो ज्ञाता और ज्ञेय का होना भी जरूरी हो जाता है। वेद ईश्वरीय ज्ञान है जीवात्मा के लिये ताकि वह अपने जीवन-लक्ष्य को प्राप्त कर सके। उसका लक्ष्य है मोक्ष में ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना। अब ज्ञान हुआ वेद का, ज्ञाता हुआ जीवात्मा और ज्ञेय हुआ ब्रह्मानन्द। यदि जीव को ज्ञाता और ब्रह्मानन्द को ज्ञेय नहीं मानोगे तो वेद का ज्ञान निरर्थक हो जायेगा। इसलिये ब्रह्मानन्द को चेतन जीवात्मा का ज्ञेय मानना ही पड़ेगा अन्यथा ईश्वरीय वेद ज्ञान और जीव का जन्म-जन्मान्तरों का पुरुषार्थ निरर्थक, निष्फल हो जायेगा। वेद का ज्ञान जीव को मिला ही है ब्रह्म को जानने के लिये। "यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।" अर्थात् जिसने वेद पढ़कर परमात्मा को न जाना उसका वेद का पढ़ना किस काम का? ब्रह्म जीव के जानने का विषय है इसलिये जीव ज्ञाता और ब्रह्म ज्ञेय है। पृष्ठ ७६ पर आप लिखते हैं "वह अनावृत (बेपर्दा) चैतन्यस्वरूप आनन्द, सदा के लिये भासमान होता रहे ऐसी परम अवस्था मोक्षपद है।" पूज्य स्वामी जी! इस परम अवस्था मोक्ष पद को प्राप्त करने वाला कौन है जो इस परम अवस्था (मोक्ष पद) को प्राप्त करके अनावृत (बेपर्दा) भासमान होते हुए (जगमगाते हुए) चैतन्यस्वरूप ब्रह्मानन्द का निरन्तर अनुभव करके आनन्दित होता रहता है? वेदांत दर्शन के अनुसार वह है जीवात्मा जो परमात्मा के दिये हुए वेद ज्ञान (देवदत्तं ब्रह्म) की रोशनी से अज्ञान का पर्दा हटाकर आनन्द स्वरूप परमात्मा को अनावृत (बेपर्दा) करके उस जगमगाते हुए ब्रह्मानन्द का अनुभव करके आनन्दित होता है। परमात्मा के आनन्द का अनुभव करना ही परमात्मा का दर्शन करना है क्योंकि दर्शन के अर्थ हैं

अनुभव करना और अनुभव के अर्थ हैं दर्शन करना। भासमान होने का अर्थ है प्रकाशित होना। जीवात्मा अनावृत(प्रकाशित) ब्रह्मानन्द को देखता है याने उसका अनुभव करताहै। आनन्द के अनुभव करने का अभिप्राय है आनन्द का भोगना। जीव मोक्ष पद को प्राप्त करके परमात्मा के आनन्द को मोक्ष काल में भोगता है (वेदांत ४-४-२१)

पृष्ठ ७६ पर आप लिखते हैं "जैसे मोक्ष अवस्था में आनन्द का भासना [प्रकाशित होना या अनुभव होना) अनावृत (बेपर्दा) चैतन्य स्वरूप है उसी प्रकार व्यवहारकाल में भी जितना जहां भासमात्र [प्रतीतिमात्र] होता है वह सब अनावृत्त (बेपर्दा) चैतन्य स्वरूप ही है। संसार में जितने भी ज्ञान हैं जिनसे हम संसार के पदार्थों को जानते हैं उन सबमें जो ज्ञानरूप से एक सामान्य तत्त्व (Common Factor) भासमान हो रहा है (दीख रहा है), वह अखण्ड ज्योति ही चैतन्य स्वरूप ब्रह्म है।" इसकी व्याख्या करते हुए आपने सिनेमा का उदाहरण दिया है। "साधारण प्रकाश (Light) और सिनेमा के प्रकाश में बस यही अन्तर है कि सिनेमा का प्रकाश (Light) तस्वीरों वाली फिल्म से गुजरता है तो पर्दे पर उन तस्वीरों की आकृति वाला हो जाता है और साधारण प्रकाश आकृति-रहित होता है इसको शुद्ध प्रकाश कहते हैं। आकृति+प्रकाश= सिनेमा। सिनेमा में जो कुछ हाथी घोड़े के रूप में दिखाई देता है वह सब फिल्म से मिला हुआ प्रकाश ही है। इस प्रकाश से हमको भिन्न-भिन्न चीजों की जानकारी होती है। इसी तरह व्यवहार काल की भासमानता (प्रतीति) आकृति से युक्त है क्योंकि चैतन्य ज्ञान-ज्योति चित्र-गर्भित अन्तःकरण रूपी फिल्म से गुजरती है और निर्विकल्प समाधि काल में भासमानता (प्रतीति) आकृति से रहित होती है क्योंकि निर्विकल्प समाधि

में अन्तःकरण की कोई शक्ल नहीं होती (मनके निर्विषय होने से अन्तःकरण में कोई आकार (शक्ल) नहीं रहता) तो वही चैतन्य ज्ञान ज्योति शुद्ध चैतन्य रूप से भासती है अर्थात् शांत आनन्द रूप से प्रकाशमान होती है। वह उसका शुद्ध स्वरूप है। वही आत्मस्वरूप ब्रह्म है। जैसे सिनेमा के पर्दों पर भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियों वाली शकलें भासती हैं वह भिन्नता आकृतियों में ही है, लाइट (प्रकाश) सर्वत्र एक स्वरूप है इसी प्रकार व्यवहार काल में अन्तःकरण की वृत्तियों (आकृतियों) में भिन्नता की प्रतीति होती है वह भिन्नता आकृतियों में है भासमानता तो सर्वत्र एकरस (अखण्ड) ज्योति (ज्ञान-तत्त्व) ब्रह्म स्वरूप है।"

यह जो कुछ आपने लिखा है बहुत खूब लिखा है (बहुत उत्तम लिखा है) कि ब्रह्मांड के भिन्न-भिन्न आकृतियों वाले पदार्थों में जो तेज, ज्ञान, सौन्दर्य और आनन्द भासता है (प्रतीत होता है) वह उसी एकरस, तेजस्वरूप ज्ञानस्वरूप सुन्दर और आनन्दस्वरूप चैतन्य ब्रह्म का ही तेज, ज्ञान, सौन्दर्य और आनन्द है। वही ज्ञान आनन्द और सौन्दर्य का भंडार है। भक्त, उपासक जिनके ज्ञान-चक्षु खुल जाते हैं वह अपने सुन्दर, आनन्द स्वरूप उपास्यदेव के दर्शन हर वस्तु में करते हैं।

"हर चीज में तेरा जलवा भक्तों को नजर आता है।
जलवे में ही तेरा उनको दीदार हो जाता है॥"

यह जो कुछ आपने लिखा है भक्त या उपासक के उत्साह को कितना बढ़ाने वाला है, परन्तु आगे जो कुछ आपने लिखा है उससे निराशा पैदा हो जाती है और ब्रह्म का बड़ा अपमान होता है। पृष्ठ ८२ पर आपने एकरस (अखण्ड) ज्ञान-ज्योति, सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान् आनन्दस्वरूप चैतन्य ब्रह्म को

माया रूपी सीता का पति राम बताया है और झूठी जड़ माया से जो ब्रह्मांड और उसमें नाना प्रकार के जो पदार्थ उत्पन्न हुए हैं उनको कल्पित याने स्वप्नमात्र झूठा बताया है और राम याने ब्रह्म को इस सम्पूर्ण परन्तु झूठे ब्रह्मांड का अधिष्ठाता बताया है। क्या खूब ? सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण कला वाले ब्रह्म ने ब्रह्मांड की रचना भी की तो झूठी, सच्ची रचना भी न कर सका। और झूठी रचना का ही स्वप्न देख रहा है और स्वप्न में ही इस झूठी रचना का अधिष्ठाता कहलाकर खुश हो रहा है और अद्वैतवादी उसको झूठी रचना का रचयिता और अधिष्ठाता कहकर खुश हो रहे हैं। जिस पूर्ण परमात्मा ने अपनी पूर्ण कला, लगाकर इस पूर्ण ब्रह्मांड की रचना की है उसकी इस पूर्ण रचना को अद्वैतवादी कल्पित, स्वप्नमात्र झूठा कहकर उस पूर्ण ब्रह्म का कितना अपमान कर रहे हैं।

आपने पृष्ठ ७६, ८०, ८१, ८२ पर जो कुछ लिखा है उसको थोड़ा सा और स्पष्ट कर देना आवश्यक है।

आपने दो अवस्थाएं बताई हैं—एक मोक्षावस्था और दूसरी संसार में व्यवहार अवस्था। मोक्षावस्था में जो आनन्द का भासना है (प्रकाशित होना या अनुभव होना है) वह अनावृत्त (बेपर्दा) चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का ही आनन्द है जो भासमान या अनुभव होता है। उसी प्रकार व्यवहार काल में इस संसार में जब हम ज्ञान की दृष्टि में संसार के पदार्थों को देखते हैं तो हमको उन सबमें एक ज्ञान स्वरूप सामान्य तत्त्व (Common factor) भासता हुआ नजर आता है। वह अखण्ड ज्ञान स्वरूप ज्योति है चैतन्य स्वरूप ब्रह्म। इसीलिये एक भक्त ने मस्ती की हालत में कहा है "हर चीज में व्यापे ज्योति प्रभु तुम्हारी, प्रणाम हो पिताजी महिमा सभी तुम्हारी।" संसार के समस्त

पदार्थ तो परस्पर भिन्न हैं परन्तु उनमें व्यापक सामान्य तत्त्व (Common factor) एक ही ज्ञानस्वरूप चैतन्य ज्योति ब्रह्म है।

इन दोनों अवस्थाओं की व्याख्या जो आपने सिनेमा के दृष्टांत से की है उससे भी यही सिद्ध होता है। प्रकाश तो एक ही होता है परन्तु हम इसको देखते हैं दो प्रकार से। एक प्रकाश जो चित्रगर्भित फिल्म से गुजर कर पर्दे पर पड़ता है तो हाथी, घोड़े आदि की आकृतियों (रूपों) को धारण करके उनकी आकृतियों में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु जब साधारण प्रकाश (जो फिल्म से नहीं गुजरता) जब पर्दे पर पड़ता है तो यह अपने वास्तविक स्वरूप में याने आकृति रहित होता है। साधारण और सिनेमा के प्रकाश में यही अन्तर होता है कि साधारण प्रकाश आकृति-रहित है और सिनेमा का प्रकाश आकृति-सहित है।

इसी प्रकार व्यवहार-काल में ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप चैतन्य ब्रह्म की भासमानता में और निर्विकल्प समाधि की अवस्था में ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप ब्रह्म की भासमानता में यह अन्तर है कि व्यवहार काल में ज्योतिस्वरूप ब्रह्म संसार की फिल्म के पदार्थों में अनुप्रविष्ट होकर उनकी आकृतियों (रूपों) को धारण करके नाना प्रकार के रूपों में भक्तों को दृष्टिगोचर होता है "हर चीज में तेरा जलवा भक्तों को नजर आता है।" यह नानापन संसार के प्रकृति के जड़ पदार्थों में है, ब्रह्म इन सबमें अनुप्रविष्ट होते हुए भी उसके एकत्व अथवा सबसे पृथक्त्व में बाधा नहीं पहुंचाता। वह उनसे सदैव पृथक् रहता है। और निर्विकल्प समाधि या मोक्षावस्था में जब मन के विषय नहीं होते तो उस वक्त जीवात्मा आनन्द स्वरूप चैतन्य ज्योति (ब्रह्म) को संसार के पदार्थों के अनेक रूपों में नहीं देखता अपितु उसको शांत आनन्द रूप से प्रकाशमान

होता हुआ देखता है यानि उसके आनन्द का अनुभव करता है। ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करना ही ब्रह्म के दर्शन करना है। अनुभव के अर्थ हैं दर्शन करना या देखना और दर्शन करने या देखने के अर्थ हैं अनुभव करना। जीव ब्रह्म का दो तरह से अनुभव करता है यानि दर्शन करता है—एक तो संसार के नाना प्रकार के पदार्थों के नाना प्रकार के रूपों में और दूसरा निर्विकल्प समाधि या मोक्षावस्था में उसके आनन्द का अनुभव करता है। अनुभव के अर्थ हैं दर्शन करना।

यह जो कुछ आपने लिखा है वेद के त्रैतवाद सिद्धांत के अनुकूल है। परन्तु आगे चलकर आपने समस्त ब्रह्मांड को कल्पित यानि झूठा लिख दिया है। जब ब्रह्मांड ही झूठा हो गया तो आप भी इस ब्रह्मांड में शामिल हैं। इसलिये आप भी झूठे हो गये और यह जो कुछ आपने लिखा है वह भी झूठा हो गया।

पृष्ठ ८२-८३ पर आपने लिखा है कि "यह अखण्ड चेतन्य-स्वरूप एकरस ब्रह्म है तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का अधिष्ठाता, सर्व-व्यापक (सब के अन्दर और बाहर भी है) स्वयं प्रकाश, तथापि अज्ञान के पर्दे ने उसको सर्वत्र ढांपा हुआ है इससे वह स्वतः ब्रह्मांडरूप से नहीं भासता। जब इस अज्ञान के पर्दे को हटा दिया जाता है तब ब्रह्म अनावृत (बेपर्दा) हो कर अपने में कल्पित पदार्थों के रूप में भास जाता है।"

आपके कथनानुसार पर्दा हटाने वाली है माया से बने हुए जड़ मन की जड़ वृत्ति। सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को, झूठी जड़ माया अज्ञान के पर्दे में लपेट लेती है और ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का भासना बन्द कर देती है। झूठी माया ब्रह्म से कितनी जबरदस्त है। यदि इस झूठी माया का नौकर जड़-मन वृत्ति के रूप में इस पर्दे को न हटाये तो ब्रह्म तो अनन्तकाल तक इस

अज्ञान के पर्दे में ही फंसा रहे । सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ब्रह्म को अज्ञान के पर्दे में फंसा कर आपने ब्रह्म का इतना अपमान क्यों किया है ? इसका एक ही कारण है—वह यह कि आपने जीव को ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला ब्रह्म का द्रष्टा, ब्रह्म के आनन्द को भोगने वाला नहीं माना। यदि जीव की भिन्न सत्ता को मान लिया जाता तो यह अज्ञान का पर्दा सर्वज्ञ ब्रह्म को न लपेटता। वास्तव में अज्ञान के पर्दे ने सर्वज्ञ ब्रह्म को नहीं अपितु अल्पज्ञ जीव को लपेटा हुआ है। जीव दयालु परमात्मा के दिये हुये वेद ज्ञान की रोशनी से अपने अज्ञान के पर्दे को दूर करके अपने ज्ञान चक्षु से उस सर्वव्यापक परमात्मा के दर्शन हर चीज में करता है।

अज्ञानियों से रहता है केवल वह दूर दूर
खुल जायें ज्ञान चक्षु तो वह है मिला हुआ ॥

इस तरह जीव ब्रह्मांड में उसके दर्शन हर वस्तु में करता है और कहता है: —

जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।
तू ही बस तू ही बस तू ही बस तू ही है ॥

फिर उसको प्रणाम करता है:—

हर चीज में व्यापे ज्योति प्रभु तुम्हारी।
प्रणाम हो प्रभु जी महिमा सभी तुम्हारी ॥

फिर योगाभ्यास से चित्त की वृत्तियों का निरोध करके अज्ञान के पर्दे को दूर करके समाधिस्थ होकर परमात्मा के आनन्द को समाधि काल में अनुभव करता है और आनन्दित हो जाता है फिर विदेह मोक्ष को प्राप्त होकर उसके आनन्द को मोक्षकाल में निरन्तर भोगता रहता है और आनन्दित रहता है।

आपने अज्ञान के कारण ब्रह्म से भिन्न जीव की सत्ता न

मानकर ब्रह्म को ही अज्ञान के पर्दे में लपेटा हुआ मान लिया है और जीव को ब्रह्म मानकर ब्रह्म को ही तमाम पाप कर्मों का कर्त्ता और दुःख सुख भोक्ता मान रहे हैं। परमात्मा इन को सद्ज्ञान प्रदान करे।

पृष्ठ ८५ और ८६ पर आपने लिखा है कि "वृत्ति को एक भ्रान्ति हो चुकी है कि जब विदेह मोक्ष होगा तब अज्ञान के सहित सूक्ष्म शरीर का अत्यन्त अभाव हो जाने पर जब मैं ही नहीं रहूंगी तो फिर उस मोक्ष आनन्द को (ब्रह्मानन्द को) कौन प्रकाशित करेगा? कौन जानेगा?" स्वामी जी! इसका उत्तर तो यह होना चाहिये कि जीव परमात्मा के ज्ञान से योगाभ्यास द्वारा चित्त की वृत्तियों का निरोध करके समाधिस्थ हो जाता है तो अपने अज्ञान के पर्दे को दूर करके ब्रह्मानन्द का साक्षात्कार करता है और अपनी निजी स्वाभाविक चैतन्य शक्ति से उस आनन्द का अनुभव करके समाधि-काल में आनन्दित होता है और विदेह मोक्षकाल में निरन्तर आनन्दित होता रहता है। समाधि या मोक्ष अवस्था में ब्रह्मानन्द को भोगने के लिये जीव को किसी भौतिक जड़ उपकरण की आवश्यकता नहीं रहती। वह अपनी स्वाभाविक शक्ति से उसको भोगता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध से तो समाधि और फिर मोक्षावस्था बनती है इसलिये समाधि या मोक्षावस्था में वृत्तियों के न होने की तो आवश्यकता है, होने की नहीं क्योंकि वृत्तियों की मौजूदगी में तो समाधि या मोक्षावस्था की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। इसलिये मोक्षकाल में इस ब्रह्मानन्द को प्रकाशित करने के लिये किसी चित्त वृत्ति की तो कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि ब्रह्म स्वयं प्रकाशस्वरूप है परन्तु जिस जीव ने जन्म जन्मान्तरों के पुरुषार्थ से मोक्ष पद को प्राप्त किया है उसका तो मोक्ष काल में होना और मोक्षानन्द

को भोगना जरूरी है। परन्तु आप मोक्षावस्था में जीव का होना भी नहीं मानते।

आपका मत है कि "मोक्ष अवस्था में जड़ मन और इसकी वृत्ति ब्रह्मानन्द को प्रकाश करने के लिये नहीं रहती, वृत्ति का काम केवल आवरण का भंग करना है बल्कि संसार के पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं करती। वह स्वयं अनावृत (बेपर्दा) चैतन्य ही अपने में कल्पित पदार्थ के रूप से प्रकाशमान (जाहिर) हो जाता है।"

यह तो ठीक है कि वृत्ति प्रकाशित नहीं करती पर आपके इस कथन में तीन बातें विचारणीय हैं प्रथम यह कि यदि वृत्ति ब्रह्म के आगे से अज्ञान के आवरण को भंग न करे तो ब्रह्म का क्या सामर्थ्य कि वह स्वयं प्रकाश-मान (जाहिर) हो सके। यदि जड़ माया के जड़ मन की वृत्ति की कृपा हो गई तो ब्रह्म अनावृत होकर जाहिर हो गया वरना बिचारा अज्ञान के पर्दे में फंसा रहेगा। कौन निकालेगा ? दूसरी बात यह है कि "वह अनावृत होकर जाहिर होजाताहै।" प्रश्न होता है किस पर जाहिर हो जाता है ? वह ज्ञाता कौन है जिस पर जाहिर हो जाता है। ? यदि ज्ञाता या द्रष्टा कोई नहीं तो उसका जाहिर होना निरर्थक हो जायेगा। परन्तु उस सर्वज्ञ सूक्ष्मदर्शी परम्परा की कोई बात निरर्थक नहीं हो सकती। शब्द "जाहिर होना" ही जाहिर करता है कि वह किसी पर जाहिर होता है। जिस पर जाहिर होता है वह जाहिर होने वाले से भिन्न चैतन्य होता है। वह ज्ञाता है "ब्रह्म से भिन्न चैतन्य जीवात्मा।" तीसरी बात यह है कि यदि परमात्मा माया के कल्पित (झूठे) पदार्थों के रूप में जाहिर होता है तो उसका रूपों में जाहिर होना भी कल्पित याने झूठा होगा। आप लिखते हैं कि "कल्पित पदार्थों के रूपों में जाहिर होता

है।" जब कल्पित पदार्थ झूठे हैं तो उनके रूप रंग भी झूठे हुए और उनमें जाहिर होने वाला ब्रह्म भी झूठा। जब ब्रह्मांड रूपी सिनेमा की फिल्म झूठी है तो उसमें पदार्थों के रंग रूप भी झूठे ही होंगे। यदि दर्पण कल्पित याने झूठा है तो उस झूठे दर्पण में जाहिर होने वाला प्रतिबिंब भी झूठा होगा। जब प्रतिबिम्ब झूठा है तो बिम्ब भी झूठा ही होगा। झूठी माया के झूठे अन्तःकरण रूपी दर्पण में चिदाभास (प्रतिबिंब) भी झूठा होगा। जब प्रतिबिंब (चिदाभास) झूठा है तो बिंब (चैतन्य ब्रह्म भी झूठा हुआ। माया से बने हुए जब शरीर कल्पित याने झूठे हैं तो इनमें राम कृष्ण के रूपों में ब्रह्म का जाहिर होना भी झूठा हुआ इसलिये राम और कृष्ण का होना ही झूठा (कल्पित) हुआ। विदेशी लोग कहते हैं कि रामायण, महाभारत आदि काल्पनिक कथायें हैं आपका यह कथन कि ब्रह्मांड ी कल्पित है उन विदेशी लोगों का समर्थन करता है। इन विचारों से नास्तिक लोगों के इस विचार की पुष्टि होगी कि परमात्मा का अस्तित्व एक काल्पनिक बात है। परमात्मा का अस्तित्व हम दो बातों से सिद्ध करते हैं। एक ब्रह्मांड की रचना से और दूसरा जब योगी का जीवात्मा समाधिस्थ होकर ब्रह्म के आनन्द का अनुभव करता है। परन्तु आपके मतानुसार ब्रह्मांड भी कल्पित (झूठा) है और जीव भी कल्पित (झूठा) है इसलिये झूठा जीव ब्रह्म के आनन्द का अनुभवी नहीं हो सकता। हमारे पास दो ही यह शहादतें हैं परन्तु दोनों ही झूठीं। झूठी शहादतों से ईश्वर का अस्तित्व आप किस तरह सिद्ध करेंगे ? ब्रह्मांड की रचना और जीव को काल्पनिक (झूठा) मानने वाले नास्तिक हो जायेंगे।

पृष्ठ ८७ पर आप लिखते हैं "मोक्ष अवस्था से पहले वह

ब्रह्म चैतन्य आवृत था (उस पर मूल अविद्या का पर्दा था) और विदेह मोक्ष में मूल अविद्या के नष्ट हो जाने से सदा के लिये वह चिदानन्द अनावृत हो जाता है। क्योंकि चरम वृत्ति (अन्तिम वृत्ति) दृढ़ अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानसे नष्टहुई मूला अविद्या पुनः उत्पन्न नहीं होती। अतः आनन्द के साथ अनावृत चित्तादात्म्य विदेह मोक्ष में सदा के लिये रह जाता है। अतः वह आनन्द-स्वरूप चैतन्य सदा भासमान रहता है। और सदा प्रत्यक्ष होने के नाते आनन्दस्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ (सब पुरुषों की इच्छा का विषय) सिद्ध हो जाता है।" पूज्य स्वामी जी! ब्रह्म का ज्ञान तो ब्रह्म में सदैव रहता है तो इस ज्ञान की मौजूदगी में चैतन्य सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म को अज्ञान का पर्दा ढांप कैसे सकता है? क्या सूर्य को कभी अन्धेरे का पर्दा ढांप सकता है? अच्छा! जब आवृत से अनावृत हो जाता है तो इससे ब्रह्म के आनन्द, ज्ञान और चेतनत्व में क्या फरक पड़ जाता है? वह तो पर्दे से पहले भी और फिर पर्दे के पीछे भी चैतन्य ज्ञानस्वरूप आनन्द स्वरूप ही होता है, और पर्दे के हटने के बाद भी वह वैसा का वैसा ही चैतन्य ज्ञानस्वरूप आनन्द स्वरूप जाहिर हो जाता है। जैसे सूर्य का प्रकाश से तादात्म्य है वह बादलों के पर्दे से पहले भी बादलों के पर्दे के पीछे भी वह वैसा ही प्रकाश स्वरूप है जैसा कि बादलों के पर्दे के हट जाने के बाद जाहिर होता है। बादलों के पर्दे से उसके प्रकाशत्व में कोई फरक नहीं पड़ता। हां बादलों के पीछे हो जाने से देखने वालों को नजर नहीं आयेगा और बादलों के पर्दे के हटने पर उनको फिर नजर आ जायेगा। इसी तरह अज्ञान के पर्दे से चैतन्य आनन्द स्वरूप ब्रह्म जीव को नजर नहीं आयेगा।

समाधि की अवस्था में या विदेह मोक्ष में जब यह पर्दा हट जाता है तो अनावृत (बेपर्दा) चैतन्य आनन्दस्वरूप ब्रह्म

जीव पर जाहिर हो जाता है। परन्तु आपके मन्तव्य के अनुसार विदेह मोक्ष में ब्रह्म अनावृत होकर सदा भासमान तो रहता है पर ब्रह्म के बेपर्दा होने के साथ ही जीव का तो अन्त हो जाता है। तो फिर जीव के लिये ब्रह्म का बेपर्दा होना या न होना एक बराबर है। यदि ब्रह्म के बेपर्दा होने से चैतन्य जीव को उसके आनन्दस्वरूप के दर्शन हो जाते और उसके ब्रह्मानन्द का अनुभव हो जाता और इस आनन्द को भोगकर आनन्दित हो जाता तो ब्रह्म का बेपर्दा होना सार्थक और जीव के लिये लाभदायक हो जाता। आपके मन्तव्य के अनुसार ब्रह्म के आवृत या अनाबृत होने का कोई प्रयोजन नजर नहीं आता। सृष्टि-रचना का सब खेल निरर्थक ही मालूम होता है। सार्थक हो भी कैसे सकता है क्योंकि आपके मन्तव्य के अनुसार सब खेल कल्पित है, स्वप्न मात्र है। स्वप्न के तमाम व्यवहार से न किसी को लाभ न हानि होती है। परन्तु वेद शास्त्रों के ज्ञान के अनुसार यह अज्ञान का पर्दा जीव के अज्ञान के कारण होता है। इस पर्दे को हटाने के लिये परमात्मा अपने ज्ञान का प्रकाश वेद द्वारा जीव को देता है। जिस ज्ञान से जीव योगाभ्यास द्वारा इस पर्दे को हटाकर आनन्द से आनन्दित होता रहता है।

यदि जीवात्मा की सत्ता मोक्ष काल में बनी न रहे तो मोक्षकाल में चिदानन्द के सदा भासमान रहने से क्या लाभ ? वह आवृत हो या अनावृत हो वह तो हर हाल में जगमगा रहा है। उसका अनावृत (बेपर्दा) होना सार्थक तब ही हो सकता है जब उसके अनावृत होने पर किसी चैतन्य की ब्रह्म से भिन्न सत्ता मानी जाये जो उसके आनन्द को अनुभव करके मोक्षकाल में आनन्दित होता रहे।

आपने जो यह लिखा है कि "सदा प्रत्यक्ष (अनावृत) होने

के नाते आनन्द स्वरूप मोक्ष पुरुषार्थ (सब पुरुषों की इच्छा का विषय) सिद्ध हो जाता है।" यह आपका कथन बड़ा गोलमोल (Ambiguous) है । इसका अर्थ जो मैं समझ सका हूँ वह यह है कि सब जीवों के जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ का प्रयोजन (सब जीवों की इच्छा का विषय) यह होता है कि ज्ञानस्वरूप, मुक्तस्वरूप आनन्द स्वरूप ब्रह्म को अज्ञान के पर्दे से छुटकारा दिलाया जाये ताकि वह मोक्षकाल में सदा अनावृत होकर भासता रहे,जगमगाता रहे । यही उनकी मोक्ष-प्राप्ति के लिये उनके पुरुषार्थ की सिद्धि होगी । स्वामी जी ! जीवों के पुरुषार्थ से और जड़ मन की वृत्ति की कृपा से सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान्, ज्ञान और आनन्दस्वरूप चैतन्य ब्रह्म माया के अज्ञान के पर्दे से छुटकारा पाकर मोक्षकाल में सदा के लिये भासने (जगमगाने) लगता है । मगर ब्रह्म को अज्ञान के पर्दे से छुड़ाने के बाद उन सब बिचारे पुरुषार्थियों (जीवों) का अन्तःकरण के साथ अन्त हो जाता है । इनके पुरुषार्थ से ब्रह्म तो अज्ञान के पर्दे से छूट गया मगर इनका अन्त हो गया। ब्रह्म तो अनावृत (बेपर्दा) होकर जगमगाने लगा परन्तु अद्वैतवादी भाइयों के जीव तो होंगे ही नहीं जो अनावृत ब्रह्मानन्द से आनन्दित होते । जो जीव आनन्द के भिखारी बनकर(ब्रह्म बन-कर नहीं) परमात्मा की उपासना करेंगे वह जीव तो (वेदांत दर्शन के अनुसार) मोक्ष को प्राप्त करके मोक्षकाल में ब्रह्मानन्द को भोगकर आनन्दित होते रहेंगे ।

परमात्मा करे कि अद्वैतवादी भी अपने आपको ब्रह्म के आनन्द का भोक्ता समझें ताकि वह भी मोक्षकाल में ब्रह्म के आनन्द को भोग सकें । लेकिन दुःख तो इस बात का है कि न तो वह मोक्षकाल में अपनी सत्ता को मानते हैं और न ही अपने आपको ब्रह्म के आनन्द का भोक्ता मानते हैं । वह तो

ब्रह्म को माया के अज्ञान के पर्दे से अनावृत करना ही अपना लक्ष्य समझते हैं। उसके आनन्द को भोगना अपना लक्ष्य नहीं समझते।

एक प्रश्न होता है कि ब्रह्म ने अपने आपको इस माया के अज्ञान के बंधन में डाला ही क्यों? पहले अपने आपको अज्ञान के पर्दे में कैद किया और फिर जीवों के पुरुषार्थ से अपने आप को मुक्त करता है इस फंदे से और इस फंदे से छुड़ाने वाले पुरुषार्थी जीवों को समाप्त कर देता है। यह तो इस तरह है जैसे एक डाक्टर पहले अपने आपको बीमार कर लेता है, फिर कम्पौण्डरों की सहायता से बीमारी से मुक्त हो जाता है और जो कम्पौण्डर उसका इलाज करते हैं, डाक्टर उनको समाप्त कर देता है।

आपके ऐसे सिद्धान्तों से ब्रह्म का कितना उपहास (हंसी) होता है। नास्तिक लोग क्या कहते होंगे!

पृष्ठ ८८ पर आप लिखते हैं कि "यदि वह चरमवृत्ति (जड़ मन की वृत्ति) (अन्तिमवृत्ति) आनन्द को विषय याने अनुभव करती रही तो वह आनन्द जड़ सिद्ध हो जायेगा। परन्तु वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म जड़ नहीं चेतन है अर्थात् स्वयंप्रकाश है और स्वयंप्रकाश पदार्थ किसी का विषय न होता हुआ भी प्रत्यक्ष होता है याने प्रकाशमान होता है।" स्वामी जी! जड़ मन की वृत्ति तो जड़ होती है। आनन्द, जड़-वृत्ति का विषय कैसे हो सकता है याने जड़वृत्ति चैतन्य ब्रह्मानन्द का अनुभव कैसे कर सकती है? यह तो प्रश्न ही गलत है। आनन्द को अनुभव करने वाली जड़ वृत्ति नहीं होती। इस आनन्द को अनुभव करने वाला चैतन्य जीव है जो अपनी निजी चैतन्य शक्ति से चैतन्य ब्रह्मानन्द को मोक्षकाल में अनुभव करता है। चैतन्य ब्रह्मानन्द जड़ मन की वृत्ति का विषय (ज्ञेय) तो नहीं हो सकता पर

चैतन्य ब्रह्म चैतन्य जीव का विषय (ज्ञेय) तो हो सकता है। यदि ब्रह्म ज्ञाता-जीव का विषय (ज्ञेय) न होता तो परमात्मा उसको ब्रह्म के जानने के लिये वेद ज्ञान ही क्यों देता ? ब्रह्म को जानने के बिना ब्रह्मानन्द की प्राप्ति ही नहीं हो सकती। स्वयं प्रकाश-मान पदार्थ को प्रकाशित करने की आवश्यकता तो नहीं होती यह तो ठीक है परन्तु वह किसी चैतन्य के देखने का विषय तो हो सकता है। जैसे स्वयंप्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने की आवश्यकता तो नहीं होती पर चैतन्य जीवात्मा उसको अपनी आंख से देख तो सकता है। यदि चैतन्य जीव मोक्षकाल में चैतन्य ब्रह्मानन्द को लूटता है तो इसका अर्थ आपने यह कैसे निकाल लिया कि चूंकि "मोक्ष में ब्रह्मानन्द जीव का विषय होता है और जो किसी का भी विषय है वह स्वयंप्रकाश नहीं परन्तु जड़ मानना पड़ेगा।" यह अर्थ आपका तो बड़ा विचित्र मालूम होता है।

वेदांत दर्शन ब्रह्मविषयक ज्ञान है। यह ज्ञान चैतन्य जीव के लिये है। इसलिए जीव ज्ञाता होगा और ब्रह्म उसका विषय (ज्ञेय) होगा। तो क्या ब्रह्म जीव का विषय होने से उसको आप स्वयंप्रकाश नहीं कहोगे ? जड़ कहोगे ? आपके मतानुसार तो श्री व्यासदेव ने ब्रह्म विषयक ज्ञान देकर बड़ी भूल की है क्योंकि इस ज्ञान से ब्रह्म जीव का विषय (ज्ञेय) हो जायेगा और जीव ज्ञाता। कृपा करके अपने इस मत को विचार की दृष्टि से देखें।

पृष्ठ ८९ पर आप लिखते हैं "जीव आनन्द का अनुभव करता है, ऐसा न कहकर यह कहना चाहिये कि जैसे हवा निकलने के बाद बुदबुदा जल रूप से स्थित हो जाता है, उसी प्रकार मोक्ष में अविद्या व सूक्ष्म शरीर के समाप्त होने पर आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म से स्थित हो जाता है,

अर्थात् जीव का जीव भाव समाप्त होकर सदा के लिये आनन्द-स्वरूप-ब्रह्मरूप भासमान होता रहता है।" पूज्य स्वामी जी! बुदबुदा बनता है समुद्र के पानी और हवा के संयोग से। हवा की सत्ता भिन्न है और पानी की भिन्न। ब्रह्मरूपी समुद्र के जल से ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला कोई और पदार्थ मानना पड़ेगा जिसके संयोग से जीवरूपी बुदबुदा बनता है। यदि ब्रह्म से भिन्न कोई पदार्थ माना जाये तो अद्वैतवाद को हानि पहुँचती है यदि न मानी जाये तो जीवरूपी बुदबुदा बन नहीं सकता। इसलिये जीव बुदबुदे की भांति नहीं हो सकता। बुदबुदा=हवा+पानी। केवल पानी को या हवा को बुदबुदा नहीं कहा जाता। दोनों के सयोग का नाम है बुदबुदा। दोनों के वियोग होने पर बुदबुदा नाम की वस्तु रहती ही नहीं। जब बुदबुदा ही समाप्त हो गया तो जल रूप से स्थित कैसे हुआ? आपके कथनानुसार जीव के भी तीन हिस्से हैं अन्तःकरण+सामान्य चैतन्य+विशेष चैतन्य। इन तीनों की संज्ञा है जीवात्मा। जब अन्तःकरण के अन्त के साथ जीव का भी अन्त हो जाता है (जीव के अन्त के साथ जीवभाव भी समाप्त हो जाता है) तो फिर वह सदा के लिये आनन्दस्वरूप-ब्रह्मरूप से भासमान कैसे होता रहेगा? आपका बुदबुदे का उदाहरण युक्तियुक्त नहीं। इस पर तो कई प्रश्न हो सकते हैं। आपको तो जीव को मोक्षकाल में ब्रह्म के आनन्द का भोक्ता मान ही लेना चाहिये जैसा कि वेदांत दर्शन४-४-२१ में स्पष्ट लिखा हुआ है।

पृष्ठ ८६ पर आपने लिखा है कि "मोक्षानन्द को नित्य माना जाता है।" प्रश्न होता है कि मोक्ष का नित्य आनन्द किसके लिये है? यदि कहो ब्रह्म के लिये तो यह कहना ठीक नहीं बनता क्योंकि ब्रह्म तो है ही नित्य आनन्दस्वरूप। यह

मोक्ष का विशेषण जो नित्य आनन्द के साथ लगाया गया है इसका स्पष्ट अभिप्राय यह मालूम होता है कि जो आनन्द जीवमोक्ष को प्राप्त होकर मोक्षकाल में भोगता है उसको नित्य मोक्ष आनन्द कहते हैं । समाधि या सुषुप्ति अवस्था में जीव जो आनन्द अनुभव करता है उसको नित्य आनन्द नहीं कहा जाता । मोक्षकाल में जो आनन्द भोगता है उसे नित्य आनन्द कहते हैं । समाधि काल का आनन्द थोड़े काल के लिये होता और मोक्षकाल का आनन्द दीर्घकाल के लिये होता है इसलिये उसको नित्य आनन्द माना जाता है ।

पृष्ठ ६० पर आपने लिखा है कि "वह नित्य (सदा) प्रकाशमान आनन्द स्वरूप मोक्ष परम पुरुषार्थ है।" प्रश्न होता है वह पुरुषार्थी कौन है जिसके परम पुरुषार्थ का यह फल है ? यह आनन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति जीव के ही परम पुरुषार्थ का फल हो सकता है ।

पृष्ठ ६० पर आप लिखते हैं "अन्यान्य शब्दों में सभी प्राणी उस मोक्षपद को चाहते हैं । भला नित्य प्रत्यक्ष सुख को कौन नहीं चाहेगा ? सभी चाहते हैं ।" पूज्य स्वमी जी ! यह सभी चाहने वाले कौन हैं ? वह जीव ही तो हैं जो मुमुक्षु बनकर इस मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिये परम पुरुषार्थ करते हैं । आप मानते तो यह हैं कि इस आनन्द को चाहते तो सभी हैं परन्तु भोगता कोई नहीं । क्योंकि जीव के जन्म-जन्मान्तरों के परम पुरुषार्थ से नित्यानन्दस्वरूप ब्रह्म के ऊपर से केवल अज्ञान का पर्दा हट जाता है और वह फिर सदा भासमान रहता है पर बिचारे पुरुषार्थी जीवों का अन्त हो जाता है वह समाप्त हो जाते हैं (उनके भाव का अभाव हो जाता है) । बिचारे इस आनन्द को भोगते नहीं । आप उनका पुरुषार्थ तो मानते हैं पर अनन्द भोगना नहीं मानते । यदि आप वेदांत

दर्शन की इस बात को मान लें कि जीव इस आनन्द को भोगते हैं तो आपका अद्वैतवाद समाप्त हो जाता है। इसलिये इस भय से वेदांत की बात को न मानकर जीवों को समाप्त कर देते हैं।

पृष्ठ ६० और ६१ पर आप लिखते हैं कि "मन अथवा चिदाभास के दो स्वरूप होते हैं एक नकली दूसरा असली। जो उसके नित्य माने जाते हैं। उसका दुःखी व अशांत आदि स्वरूप है वह नकली है और उसका जो वास्तविक स्वरूप है वह साक्षी सत्, चित् व आनन्द स्वरूप परब्रह्म है। मोक्ष में इस जीव का अस्तित्व ही समाप्त नहीं होता परन्तु इसका सूक्ष्म शरीर व चिदाभास आदि नकली स्वरूप तो समाप्त हो जाता है और असली आत्मस्वरूप-सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म रूप से रह जाता है। जैसे बुदबुदे के दो स्वरूप हैं। एक गोलाई दूसरा जल वाला अंश। गोलाई उसका नकली स्वरूप है जल उसका असली स्वरूप है। हवा निकलने के बाद गोलाई वाला नकली स्वरूप तो समाप्त हो जाता है परन्तु जल वाला असली स्वरूप सागर रूप से स्थित हो जाता है। अब बताओ कौन बुदबुदा अपनी गोलाई को कुर्बान करके सागर रूप होना नहीं चाहेगा? वास्तव में गोलाई के समाप्त होने पर बुदबुदे का अस्तित्व समाप्त नहीं होता, इसी प्रकार जीव में अस्तित्व ही ब्रह्म का है उसका मन (सूक्ष्म शरीर) अथवा चिदाभास वाला स्वरूप तो नकली एवं अनित्य है। अपने नकली दुःखी स्वरूप को कुर्बान करके असली आनन्दस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करना कौन नहीं चाहेगा? कौन डिप्टी कलेक्टर कलेक्टर पद को पाने के लिये अपने पहले वाले डिप्टी कलेक्टर पद को समाप्त करना नहीं चाहेगा?" पूज्य स्वामी जी! यह जो कुछ आपने लिखा है आपकी बात को पुष्ट नहीं करता। आओ इस पर विचार करें।

१— बुदबुदे के दो स्वरूप नहीं होते। उसका तो एक ही स्वरूप है— गोलाई। जल उसका स्वरूप नहीं। जल और हवा तो उसके दो हिस्से हैं जिनके संयोग से बुदबुदा बनता है। जब बुदबुदा फट जाता है तो हवा और पानी का वियोग हो जाता है। न बुदबुदा रहता है न उसका स्वरूप (गोलाई)। जल और हवा का तो अपना-अपना स्वरूप रह जाता है लेकिन बुदबुदे का नहीं। बुदबुदे के साथ उसका स्वरूप भी समाप्त हो जाता है। न हवा को, न जल को, बुदबुदा कहते हैं। दोनों के संयोग का नाम बुदबुदा होता है।

२—यह तो ठीक है कि डिप्टी कलेक्टर, कलेक्टर पद को पाने के लिये अपने पहले वाले डिप्टी कलेक्टर पद को समाप्त करना जरूर चाहेगा क्योंकि बड़े पद को पाने के लिये छोटा पद कुर्बान करना ही पड़ता है पर यह कितनी मूर्खता होगी यदि कलेक्टर अपना ऊंचा पद छोड़कर पहले डिप्टी कलेक्टर बन जाये और फिर कोशिश करे कलेक्टर के पद को प्राप्त करने की। इसी तरह ब्रह्म की कितनी मूर्खता होगी यदि वह ब्रह्म से जीव बने और फिर पापी बनकर पाप करे और जन्म मरण के चक्र में अपने आपको फंसा कर खूब दुःख भोगे और फिर कोशिश करे उसी ब्रह्म पद को प्राप्त करने की। यह तो ठीक है कि जीव इस अशान्त और दुःखों से भरे हुए पद को छोड़ कर अपने पहले ऊंचे पद (ब्रह्म पद) को प्राप्त करना चाहेगा। परन्तु यह बात समझ नहीं आती कि उसने जीव बन कर कर्ता और दुःख-सुख भोक्ता बनना क्यों पसन्द किया। आनन्द स्वरूप तो था ही। उसने जीव का स्वरूप धारण करके नाना प्रकार के पाप करके कई योनियों में चक्र लगाना और दुःख भोगना क्यों पसन्द किया। क्या ऐसे ब्रह्म को समझदार कहेंगे। ब्रह्म को जीव के स्वरूप में मान

कर उसको पापी कहना तो आपको मंजूर है पर जीव की ब्रह्म से भिन्न सत्ता मानना मंजूर नहीं।

३—आपके कथनानुसार प्रकाश के तो दो स्वरूप होते हैं एक सामान्य प्रकाश (असली) और दूसरा विशेष प्रकाश (नकली)। परन्तु विशेष प्रकाश के दो स्वरूप नहीं होते। विशेष प्रकाश तो प्रकाश के दो स्वरूपों में से एक स्वरूप है। इसी तरह आपके कथनानुसार चैतन्य ब्रह्म के दो स्वरूप तो हो सकते हैं, एक सामान्य चैतन्य असली और दूसरा विशेष चैतन्य (चिदाभास) नकली। परन्तु विशेष चैतन्य (चिदाभास) के दो स्वरूप नहीं हो सकते। विशेष चैतन्य (चिदाभास) तो चैतन्य ब्रह्म के दो स्वरूपों में से एक स्वरूप है। इसलिये आपके कथनानुसार ब्रह्म के दो स्वरूप हैं एक नकली दूसरा असली। जीव के दो स्वरूप नहीं हो सकते। जीव ब्रह्म का नकली रूप है। यह जीव का रूप ब्रह्म ने धारण किया है। पहले उसने माया का अन्तःकरण (दर्पण) बनाया और दर्पण के सामने खड़ा हो गया। इस तरह तीन हिस्सों वाला जीव बन गया [अन्तःकरण+चिदाभास+अन्तःकरण-उपहित सामान्य-चेतन] फिर अज्ञानी जीव के स्वरूप को धारण करके सब प्रकार के पाप कर्म करने शुरू कर दिये और फलस्वरूप नाना प्रकार की योनियों में भटकता रहा। बड़ा अशान्त और दुःखी हुआ। जीव के रूप में माया के अज्ञान के पर्दे के कारण अपने आपको भूल ही गया और माया में फंसकर दुःख सुख भोगता रहा। फिर किसी अद्वैतवादी महापुरुष के सत्संग से ज्ञानी बना और माया से मुक्त होकर अपने असली रूप सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म रूप में जाहिर हो गया। आपके कथनानुसार यह जीव ब्रह्म का नकली रूप है याने नकली ब्रह्म है। ब्रह्म अपने इस नकली रूप में (जीव के वेष में) सब अच्छे और बुरे कर्म

करता है और फलस्वरूप नाना प्रकार की योनियों में जाकर दुःख सुख भोगता है। व्यभिचार भी करता है, चोरियां भी करता है और बाकी सब प्रकार के पाप भी करता है। जब पूछा जाता है कि पाप करने वाला पापी कौन है तो ब्रह्म यह कहकर अपनी जान छुड़ाने की कोशिश करता है कि पाप करने वाला पापी तो जीव है, मैं तो शुद्धमपापविद्धम् हूँ (पाप तो मुझे छू तक नहीं सकता)। परन्तु ब्रह्म की इस बात को कौन मानेगा क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार जीव ब्रह्म का ही चिदाभास है अन्तःकरण रूपी दर्पण में और ब्रह्म चूंकि एकरस, निर्विकार और पूर्ण है इसलिये उसका चिदाभास भी एकरस, निर्विकार पूर्ण ब्रह्म ही होगा। जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। अद्वैतवाद के मानने वाले पूज्य स्वामी मनोहरदास जी ने भी अपने "सरल वेदान्त" के पृष्ठ ६१ पर ब्रह्म के खिलाफ (विपरीत) लिखित शहादत देकर इस भेद को खोल दिया है कि जीव में ब्रह्म का ही अस्तित्व होता है इसलिये जीव के वेष में पाप करने वाला ब्रह्म ही है। भला ऐसे ब्रह्म को जो पाप तो खुद करे और पापी जीव को ठहरा कर सजा उसको दे कोई अच्छी दृष्टि से देखेगा ? पूज्य स्वामी जी ! जीव की सत्ता को ब्रह्म से भिन्न न मान कर ब्रह्म का कितना उपहास हो रहा है।

पृष्ठ ६२ पर आप लिखते हैं "ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्मभाव (मोक्ष पद) प्राप्त होने पर चिदाभास पना (जीव का मन आदि सूक्ष्म शरीर और चिदाभासवाला कर्त्ता भोक्ता अंश) समाप्त हो जाता है और उसका असली स्वरूप साक्षी सच्चिदानन्द सामान्य चेतन स्वरूप शेष रह जाता है।" इस पर प्रश्न होता है कि ब्रह्म-ज्ञान किसको होता है और ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष पद किसको मिलता है ? आपका सामान्य चेतन ब्रह्म तो है ही ज्ञान स्वरूप,

मोक्ष स्वरूप और आनन्द स्वरूप। जीव जो कि आपके कथनानुसार ब्रह्म का ही विशेष चेतन अंश है तो वह भी ज्ञान स्वरूप, मोक्ष स्वरूप और आनन्द स्वरूप हुआ और उसमें तो अस्तित्व ही ब्रह्म का है (आपके कथनानुसार) तो फिर ब्रह्म ज्ञान और मोक्ष पद की प्राप्ति किसको होती है ? जब जीव है ही चेतन ब्रह्म का एक विशेष चेतन स्वरूप तो इसका नाश होगा कैसे? ब्रह्म निर्विकार है इसलिये उसमें परिवर्तन होकर कोई नया स्वरूप तो पैदा हो नहीं सकता और जो उसके स्वरूप हैं वह सामान्य हों या विशेष हों, उनका नाश नहीं हो सकता क्योंकि वह उसके स्वाभाविक स्वरूप हैं और जब तक ब्रह्म रहेगा तब तक उसके स्वरूप भी रहेंगे। चूंकि ब्रह्म का नाश नहीं होता इसलिये उसके स्वरूपों का भी नाश नहीं होता। इसलिये उसके विशेष याने नकली रूप चिदाभास का नाश नहीं हो सकता। ब्रह्म के तो कई स्वरूप हैं जो कि ब्रह्म की तरह अनादि हैं। उनका नाश नहीं होता। चेतन ब्रह्म का विशेष चेतन स्वरूप तो आपने ही बनाया है (यह आप ही की कल्पना है)। जो चीज बनाई जाती है उसका नाश भी होता है। इस लिये आपके इस कल्पित स्वरूप (विशेष चेतन स्वरूप) के नाश होने की एक उलझन आपके सामने आ खड़ी हुई क्योंकि आपने अन्तःकरण को दर्पण मान कर उसमें चेतनस्वरूप ब्रह्म के फर्जी अक्स को फर्जी (कल्पित) विशेष चेतन स्वरूप मान लिया है। यदि जीव को सर्वज्ञ चेतन आनन्द स्वरूप ब्रह्म से एक भिन्न अनादि अल्पज्ञ चेतन सत्ता मान लेते तो यह उलझन पैदा ही न होती। यह ब्रह्म ज्ञान जीव को होता है जिससे वह मोक्ष-पद को प्राप्त करता है। उसका सूक्ष्म शरीर [मन आदि] समाप्त हो जाता है। चूंकि जीव नित्य है उसकी सत्ता बनी रहती है और वह मोक्ष काल में ब्रह्मानन्द को भोगता है।

ब्रह्म के आनन्द को भोगता है खुद ब्रह्म नहीं बन जाता। ब्रह्मानन्द को प्राप्त करना ही जीव का अन्तिम लक्ष्य है।

पृष्ठ ९३ पर आप लिखते हैं "भले ही उससे उसका मनपना अथवा चिदाभासपना जाता रहता हो; परन्तु सदा के लिये नित्य आनन्द-स्वरूप ब्रह्मरूप मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है। इस सर्वोत्तम स्थिति को कौन नहीं चाहेगा ? सभी विवेकी चाहते हैं।"

प्रश्न होता है जब जीव से मनपना भी निकल गया और चिदाभास भी जाता रहा तो बाकी रह ही क्या गया ?

जीव तो खतम ही हो गया जो मोक्ष पद को पाना चाहता था। आपके कथनानुसार जीव बनता है तीन चीजों से [अन्तःकरण (दर्पण)+विशेष चेतन (चिदाभास)+अन्तःकरण-उपहित-सामान्य चेतन]। इनमें से जब दो चीजें अन्तः करण और चिदाभास समाप्त हो गईं और तीसरी चीज—अन्तःकरण-उपहित-सामान्य चेतन, अन्तःकरण के समाप्त होने पर सर्वव्यापक सामान्य चेतन से मिल जाती है तो जीव का अन्त हो जाता है। विवेकी जीव तो समाप्त हो गया। मोक्ष आनन्द-पद किसको मिला ? यह उलझन बनी रही। जीव की नित्य सत्ता ब्रह्म से भिन्न माने बिना यह उलझन सुलझ नहीं सकती।

पृष्ठ ९३ पर आप यह लिखते हैं "यदि किसी हद तक मोक्ष का नक्शा मानें तो समाधि का आनन्द मोक्ष आनन्द का एक नक्शा हो सकता है। समाधि का अनुभव तो केवल योगी अथवा अभ्यासी महापुरुषों के लिये होता है। साधारण लोग उसका कुछ अनुभव सुषुप्ति में कर सकते हैं।"

प्रश्न होता है कि समाधि में और सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द को कौन अनुभव करता है ? वह सिवाय चेतन जीव के और कौन हो सकता है। इस तरह जीव अनुभवी (ज्ञाता) हुआ और

ब्रह्मानन्द (ज्ञेय) हुआ। आपने स्वयं ही इस उदाहरण में जीव को अनुभवी (ज्ञाता) और ब्रह्मानन्द को ज्ञेय मान लिया है और आनन्द को जीव का विषय भी मान लिया है क्योंकि यदि मोक्ष-आनन्द जीवों का विषय न होता तो वह मोक्ष आनन्द के बारे में यह प्रश्न ही क्यों करते कि वह आनन्द कैसा होता है ? और उत्तर में आप यह कह सकते थे कि यह जीव के जानने का विषय नहीं परन्तु आपने उनका विषय मानकर ही तो उनको समाधि और सुषुप्ति में उस आनन्द के अनुभव होने का उदाहरण देकर समझाने की कोशिश की। आपके इस उपर्युक्त कथन से यह गलत हो जाता है कि ब्रह्मानन्द जीव का विषय नहीं और वह मोक्ष में आनन्द को अनुभव नहीं करता जैसा कि आपने पृष्ठ ८८ पर लिखा है। जब आपने इस बात को मान लिया है कि योगियों के जीव समाधि में आनन्द को अनुभव करते हैं और साधारण लोग सुषुप्ति में धुंधला सा आनन्द अनुभव करते हैं तो फिर आप मोक्षकाल में जीव को आनन्द का भोक्ता क्यों नहीं स्वीकार कर लेते जैसा कि वेदांत दर्शन ४। ४। २१ में लिखा हुआ है। कृपा करके अपने विचारों पर फिर विचार करें।

पृष्ठ ९५ पर आप लिखते हैं "अब जब कैवल्य मोक्ष में नित्य पूर्ण ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है अर्थात् स्वयंप्रकाश (प्रत्यक्ष) नित्य आनन्द स्वरूप से स्थिति हो जाती है तो वहां आनन्द की कमी का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

प्रश्न होता है कि कैवल्य मोक्ष में नित्य पूर्ण ब्रह्मानन्द की प्राप्ति किसको हो जाती है ? प्राप्ति अप्राप्त चीज की होती है। परमात्मा आनन्द का भण्डार है और जीव आनन्द का भिखारी है। इसलिये परमात्मा की उपासना से आनन्द के भिखारी जीव को ही परमात्मा के आनन्द की प्राप्ति हो जाती

है जिसको वह मोक्षकाल में भोगता है जैसा कि वेदांत दर्शन ४ । ४ । २१ में लिखा हुआ है।

पृष्ठ ९६ पर आप लिखते हैं 'विदेह मोक्ष में इच्छा के अत्यन्त अभाव से इधर-उधर जाना अथवा संसार देखने के लिये पुनः जी ललचाने का प्रश्न ही नहीं बनता।" पूज्य स्वामी जी ! विदेह मोक्ष अवस्था में वह कौन है जिसके लिये आपने पुनः शब्द का प्रयोग (इस्तेमाल) किया है ? पुनः शब्द का इस्तेमाल उसी के लिये हो सकता है जो पहले भी संसार में हो गया हो और अब भी मोक्ष अवस्था में मौजूद हो। यह सिवाय जीव के और कौन हो सकता है। इससे साफ जाहिर है कि संसार छोड़ने के बाद विदेह मोक्ष में जीव की सत्ता बनी रहती है। यदि अन्तःकरण के अन्त के साथ जीव का भी अन्त हो जाता (जैसा कि आपका ख्याल है) तो उसका संसार को देखने के लिये पुनः जी ललचाने का प्रश्न ही न होता। आपका यह प्रश्न करना और स्वयं ही उत्तर देना जाहिर करता है कि आप भी जीव का अस्तित्व मोक्ष अवस्था में मानते हैं। यदि मोक्षावस्था में जीव का अभाव होता तो उसके लिये पुनः संसार देखने का प्रश्न ही न उठता।

मोक्ष से पुनरावर्त्तन

मोक्ष के विषय में जो आपने यह प्रश्न उठाया है कि जीव मोक्ष से पुनः लौटकर संसार में आता है कि नहीं इसके उत्तर में आपने लिखा है कि नहीं आता। जीव का पुनरावर्त्तन नहीं होता।

इस प्रश्न पर विचार करने से पहले यह देखना जरूरी है कि क्या मोक्ष अवस्था में जीव का अस्तित्व रहता है कि नहीं। यदि अस्तित्व बना रहता है तब तो जीव के मुक्ति से लौटने या न लौटने का प्रश्न उठ सकता है। यदि मुक्ति के साथ जीव का

अन्त ही हो जाता है तो फिर यह प्रश्न ही नहीं उठता। जीव के अस्तित्व का बना रहना मानना ही पड़ता है क्योंकि जीव को नित्य और अमर माना गया है। देखो क० उ० १। २। १८ जहां लिखा है :—

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे

अर्थात् यह जीवात्मा नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होता। और वेदांत दर्शन में भी लिखा है कि वह मोक्षकाल में आनन्द को भोगता है। आपने भी जो विचार अपनी पुस्तक में लिखे हैं उनसे भी यह सिद्ध होता है कि मोक्षकाल में जीव का अस्तित्व रहता है। अब यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जीव मुक्ति से लौटता है कि नहीं ? जो लोग मुक्ति से लौटना नहीं मानते वह कई एक प्रमाण देते हैं। उनमें से एक प्रमाण यह है:—

स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते ॥

(छांदोग्य उप० ८। १५। १) अर्थात् मुक्त आत्मा आयु-पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहता है।

जो पुनरावर्तन के सिद्धांत को मानते हैं उनका कहना है कि न लौटने का यह कथन केवल नियतकाल से ही सम्बन्ध रखता है। अर्थात् कुछ नियत काल है उस समय तक मुक्ति से जीव नहीं लौटता, पश्चात् लौट आता है। वह कहते हैं कि उपनिषद् वाक्य में "यावत् आयुषं ब्रह्मलोकं" का अर्थ है कि ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति की जो अवधि है (यावत् आयुषं) उस समय तक नहीं लौटता। वह ब्रह्मलोक अर्थात् मुक्ति की एक अवधि मानते हैं और 'न च पुनरावर्तते' (फिर नहीं लौटता) इस पद की संगति 'यावत् आयुषं' से मिलाते हैं। उनके विपक्षी

कहते हैं कि 'यावदायुषं' का अर्थ है "सदा" लेकिन दूसरे पक्ष के कहते हैं कि "आयुष" (जीवन) शब्द से अवधि का ही बोध होना चाहिये। "सदा" के लिये "आयु" शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। और वह कहते हैं कि "आयु" शब्द का प्रयोग अवधि के लिये ही हुआ है क्योंकि मुण्डक उपनिषद् ३। २। ६ में लिखा है "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" अर्थात् वह मुक्त जीव ब्रह्म लोक में परान्त काल तक रहकर फिर "परिमुच्यन्ति" लौटकर आते हैं। आज कल जो मुण्डक उपनिषदें मिलती हैं उनमें "परामृतात्" के स्थान में "परामृताः" (प्रथमा विभक्ति) है और इसके आधार पर "परिमुच्यन्ति" का अर्थ करते हैं "सब प्रकार से छूट जाते हैं"। परन्तु कैवल्य उपनिषद् में परामृतात् पाठ ही आया है। फिर "परान्तकाले" शब्द सृष्टि की आयु की गणना में पारिभाषिक (Technical) शब्द है। वह नित्य का बोधक नहीं।

"परान्त काल" की संख्या यह है कि तेतालीस लाख बीस सहस्र (४३२००००) वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक अहोरात्र (दिन रात) ऐसे तीस दिन रात का एक महीना, ऐसे बारह महीनों का एक वर्ष, ऐसे शत वर्षों का परांतकाल (महाकल्प) होता है। ४३२०००० वर्ष=एक चतुर्युगी। ४३२००००×२०००= ८६४००००००=एक दिन रात। ८६४००००००×३०= २५९२०००००००=एक महीना। २५९२०००००००×१२ =३११०४००००००००=एक वर्ष। ३११०४००००००००× १००=३११०४००००००००००=परांत काल (महाकल्प)। इतने वर्षों तक मोक्ष में रहकर जीव आनन्द भोगता है। इतने वर्षों में छत्तीस सहस्र (३६०००) बार सृष्टि की उत्पत्ति और

प्रलय होती है और जीव इतने समय पर्यन्त मोक्ष के आनन्द को भोगते हैं। इतना आनन्द में रहना, दुःख का न होना क्या छोटी बात है ?

जीव अनन्त काल तक मोक्ष के आनन्द को नहीं भोग सकते । क्योंकि अल्पज्ञ जीव का सामर्थ्य, शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं। उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है। अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त आनन्द को नहीं भोग सकते। जिनके साधन अनित्य हैं उनका फल कभी नित्य नहीं हो सकता। आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण नहीं, नैमित्तिक गुण है। इसलिये अनन्तकाल तक नहीं भोग सकता। परमात्मा का यह गुण स्वाभाविक अनादि है इसलिये अनन्त काल तक इसको भोगता है। जीव परमात्मा के सदृश कभी नहीं हो सकता इसलिये परमात्मा की तरह अनन्तकाल तक मोक्ष अवस्था में नहीं रह सकता। परमात्मा अनादि अनन्त मुक्त स्वरूप है, जीव अपने पुरुषार्थ से जन्म मरण के बंधन से छूटकर मुक्त अवस्था को प्राप्त करता है। मुक्ति एक अवस्था का नाम है और जिस अवस्था का आरम्भ हुआ उसका अन्त भी होना चाहिये।

दयालु परमात्मा जीवों के अनेक जन्म-जन्मान्तरों के पुरुषार्थ का उनको एक अनुपम फल मोक्षानन्द एक दीर्घकाल के लिये भोगने के लिये देता है। परन्तु वह दयालु पिता यह नहीं चाहता कि उसके पुत्र अनन्त काल तक मोक्ष आनन्द ही भोगते रहें और पुरुषार्थहीन हो जायें। इसलिये मुक्ति की लम्बी अवधि के बाद पुनः उनको संसार में भेजता है कि वह फिर पुरुषार्थी बनकर अपने पुरुषार्थ से मोक्ष पद को प्राप्त करके फिर मोक्षानन्द को दीर्घकाल तक भोगें। इस तरह पुनः

पुनः उनको मुक्ति की अवधि के बाद संसार में पुरुषार्थ करने का मौका देता रहता है। परमात्मा स्वयं भी पुरुषार्थी है वह अनादि काल से सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का काम करता चला आ रहा है और अनन्त काल तक करता रहेगा। पुरुषार्थी पिता अपने पुत्रों (जीवों) से भी अनादि काल से पुरुषार्थ करवा रहा है और अनन्तकाल तक करवाता चला जायेगा। सृष्टि और प्रलय का जिस तरह अनादि काल से चक्र चल रहा है इसी तरह जीवों के संसार में बार-बार आकर पुरुषार्थ करने और मोक्ष को प्राप्त करके मोक्ष काल में आनन्द को भोगने और फिर संसार में लौटने का चक्र भी अनादि काल से चल रहा है और अनन्तकाल तक चलता रहेगा।

जो लोग मुक्ति से पुनरावर्त्तन नहीं मानते वह भी स्वर्ग से लौटना अवश्य मानते हैं। स्वर्ग किसी स्थान विशेष का नाम नहीं, न ही किसी योनि विशेष का नाम है यह अवस्था विशेष का ही नाम हो सकता है। जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मुक्ति से इतर और कौन सी अवस्था है ? जीव इन्हीं में से किसी न किसी अवस्था में रहता है। स्वर्ग अवस्था से तात्पर्य मुक्ति अवस्था ही हो सकता है। स्वर्ग कहते हैं सुख की अवस्था को और नरक कहते हैं दुःख की अवस्था को। संसार याने इस लोक में जिनके कर्म सुकर्म होते हैं उनको भौतिक पदार्थों से सुख मिलता है और वह स्वर्ग में रहते हैं और जिनके कर्म निष्काम होते हैं उनको इस लोक में भौतिक सुख मिलने की बजाये परलोक में परमात्मा के आनन्द का सुख मिलता है जिनको वह जीव बिना शरीर के अपनी स्वाभाविक शक्ति से भोगते हैं और उनकी इस आनन्द को भोगने की अवस्था को मुक्ति की अवस्था या स्वर्ग विशेष कह सकते हैं। इस स्वर्ग याने विशेष अवस्था से जीव को लौटकर संसार में आना पड़ता है।

यजु० ३ । ६० में लिखा है:—

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥

अर्थात् मैं तीनों लोकों की माता से प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे मृत्यु के बंधन से इस प्रकार छुड़ा दे जैसे पका फल अपने डंठल से छूटकर (विना कष्ट के) गिर पड़ता है। परन्तु मुझे अमृतपद (मोक्ष पद) से दूर न करे। यदि मुक्ति से लौटना संभव न होता तो ऐसी प्रार्थना क्यों की जाती कि "मुझे मोक्ष पद से दूर न करे।"

निम्न लिखित वेद मन्त्रों से भी मालूम होता है कि जीव मुक्ति से लौटता है। ऋ० म० १ । सू० २४ । मं० १-२ ॥

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥१॥

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम । स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च ॥ २ ॥

अर्थ०—प्र०—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें ? कौन नाश रहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाश स्वरूप है। हमको मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है ? ॥१॥

उ० —हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भुगाकर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता के दर्शन कराता है वही परमात्मा मुक्ति की अवस्था करता सबका स्वामी है ॥२॥

सांख्य अ० १। सूत्र १५९ में लिखा है—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।

अर्थात् जैसे इस समय बन्धमुक्त जीव हैं वैसे ही सर्वदा रहते हैं, अत्यन्त विच्छेद (वियोग) बन्धमुक्ति का कभी नहीं होता किन्तु बंध और मुक्ति सदा नहीं रहती।

हमेशा यानि सदा रहने के अभिप्राय को ठीक न समझकर यह समझ लिया गया कि मुक्ति का काल अनन्त है। यदि एक व्यक्ति कहता है कि मुझे यह औषधि मिल जाये तो मैं सदा ही (हमेशा ही) स्वस्थ रहूंगा। तो शब्द "सदा" से उसका अभिप्राय यह कभी नहीं होता कि अनन्तकाल तक स्वस्थ रहेगा, उसका अभिप्राय यह होता है कि जब तक उसके जीवन की अवधि है तब तक वह स्वस्थ रहेगा।

एक व्यक्ति कहता है कि यदि मुझे यह नौकरी मिल जाय तो मैं हमेशा के लिये सुखी हो जाऊंगा। इसका अभिप्राय है जब तक जीवन की अवधि है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि एक दफा मोक्ष पद के प्राप्त करने पर जीव सदा के लिये जन्म मरण के बन्धन से छूट जाता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि जब तक मोक्षकाल की अवधि है तब तक वह जन्म मरण के बन्धन से छूटा रहता है। सदा का मतलब अनन्तकाल तक नहीं। मुण्डक उपनिषद में मुक्ति की अवधि दी हुई है "परान्तकाल" तक [३१ नीलम १० खरब और ४० अरब वर्ष] इतने वर्ष तक वह मोक्षानन्द को भोगता रहता है। इस अवधि के पश्चात् फिर संसार में पुरुषार्थ करने आता है। पुरुषार्थ करना जीव का स्वाभाविक गुण है (the soul is Dynamic by nature) जीव को पुरुष भी कहतेहैं। और पुरुष का अर्थ है पुरुषार्थ करने वाला इसलिये यह हमेशा के लिये पुरुषार्थ के बिना रह ही नहीं सकता। जैसे सुषुप्ति

अवस्था में उसका कर्तृत्व गुण तिरोभूत सा हो जाता है जिसका फिर आविर्भूत होता है और जीव को जागृत अवस्था में आने के लिये बाधित करता है। इसी तरह मोक्ष अवस्था में भी वह आनन्द को भोगता है और उसका कर्तृत्व गुण (पुरुषार्थ) तिरोभूत सा हो जाता है जिसका फिर आविर्भूत होता है और जीव को संसार में पुनः लौटने और पुरुषार्थ करने के लिये बाधित करता है। जीव हमेशा के लिये विना पुरुषार्थ के रह ही नहीं सकता। न ही सादि मोक्ष अवस्था अनन्त हो सकती है क्योंकि जिसका आदि होता है उसका अन्त भी होता है। न ही आनन्द जीव का स्वाभाविक गुण है जो अनन्त काल तक भोगता रहे। इसलिये जीव को पुनः मोक्षावस्था से संसार में लौटना पड़ता है ताकि पुरुषार्थ करके फिर मोक्ष अवस्था को प्राप्त करे।

पृष्ठ ६६ पर आप लिखते हैं "मोक्ष के लिये तो केवल एक ही मार्ग ज्ञानमार्ग है। वेद कहता है कि—

"तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।"

अर्थात् उसी आत्मतत्त्व को जानकर ही मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है कैवल्य मोक्ष प्राप्ति के लिये और कोई मार्ग नहीं है।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

अर्थात् विना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। आत्म ज्ञान से ही ब्रह्म प्राप्ति होती है॥

पृष्ठ ६६ पर आपने लिखा है कि "यज्ञादि कर्मानुष्ठान से मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती।"

पूज्य स्वामी जी! मोक्ष पद की प्राप्ति के लिये ज्ञान और कर्म दोनों ही आवश्यक हैं। किसी भी वस्तु को प्राप्त करने

के लिये उस वस्तु का ज्ञान होना याने जानना बहुत आवश्यक है। खाली जानने से प्राप्ति नहीं हो जाती। उसके लिये कुछ साधना करनी पड़ती है याने कुछ कर्म करने पड़ते हैं। सिद्धि अथवा उपलब्धि ज्ञान से नहीं साधना से होती है। ज्ञान से केवल जाना जाता है। साधना से प्राप्ति होती है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये भी परमात्मा का जानना बहुत आवश्यक है। उसको जान कर फिर उसकी प्राप्ति के लिये साधना की आवश्यकता है। किसी वस्तु को जानने का अभिप्राय होता है उसके गुणों को जानना। विना गुणों के जानने के कोई वस्तु भी जानी नहीं जा सकती। परमात्मा को भी उसके गुणों से ही जाना जा सकता है। वेद में उसके तमाम गुण वर्णन किये हुए हैं। उसके गुणों से मालूम हुआ कि वह अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, अजर, अमर, सृष्टि का रचयिता, अनुपम, अद्वितीय, कर्माध्यक्ष, कर्म फल दाता, न्यायकर्ता, सबको समान दृष्टि से देखने वाला, दु:खों को दूर करके सबको सुख देने वाला, मुक्त स्वरूप, ज्ञान स्वरूप, ज्ञान का भंडार है, आनन्द स्वरूप आनन्द का भंडार है। जीव का अन्तिम लक्ष्य है आनन्द की प्राप्ति और परमात्मा है आनन्द का भंडार जैसा कि हमको उसके गुणों के जानने से ज्ञात हुआ। जिन्होंने तत्त्व ज्ञान से यह जान लिया कि आनन्द भौतिक पदार्थों में नहीं है, वह है परमात्मा के पास, तो समझो कि उन्होंने ब्रह्म को जान लिया। जिस आनन्द की उनको आवश्यकता है उस आनन्द के भंडार को उन्होंने जान लिया। इस तत्त्व ज्ञान से उनको 'आनन्द से शून्य' भौतिक पदार्थों से वैराग्य हो जाता है। और परमात्मा से आनन्द की प्राप्ति के लिये साधना में लग जाते हैं। वह साधना है योग साधना। विना योगाभ्यास के मोक्षानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकता। जैसा कि एक कवि ने कहा है—

हर जगह मौजूद है पर वह नजर आता नहीं ।
योग साधन के विना उसको कोई पाता नहीं ।।

योगाभ्यास के लिये मन का पवित्र होना बहुत जरूरी है. क्योंकि पवित्र मन ही एकाग्र हो सकता है। मन को पवित्र करने के लिये ज्ञानयुक्त श्रेष्ठतम कर्म (निष्कामकर्म) करने पड़ते हैं। श्रेष्ठतम कर्म करने के लिखे यज्ञमय जीवन बनाना पड़ता है। यम-नियम का पालन और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास करना पड़ता है। इनसे मन पवित्र हो जाता है। और इसमें एकाग्रता आ जाती है। मन की एकाग्रता से ध्यान और समाधि की अवस्था बन जाती है। और योगी का जीव समाधिस्थ होकर परमात्मा के आनन्द को अनुभव करके आनन्दित होता रहता है। ऐसा निष्काम कर्म ब्रह्मनिष्ठ योगी जीवन मुक्त हो जाता है और शरीर छोड़कर विदेह मोक्षपद को प्राप्त करता है और मोक्ष काल में परमात्मा के आनन्द को भोगता है और आनन्दित हो जाता है।

ज्ञान और कर्म—जीव आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान की प्राप्ति और कर्म करना (पुरुषार्थ) हैं। इसके शरीर की बनावट भी इसके स्वाभाविक गुणों की साक्षी हैं। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियां हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान और कर्मेन्द्रियां जीवात्मा के कर्म गुण को सार्थक करने के लिये हैं। ज्ञान बहुत आवश्यक हैं कर्म करने के लिये और कर्म बहुत आवश्यक हैं ज्ञान को सार्थक करने के लिये। विना कर्म के केवल ज्ञान से कोई लाभ नहीं होता। केवल ज्ञान या केवल कर्म का सेवन करना अंधकार में पड़ता है।

स्वामी प्रकाशानन्दजी ने ६. ३. ६६ को स्वामी रामतीर्थ मिशन में कहा कि केवल ज्ञान से लोग आलसी हो जाते हैं और केवल कर्म से भोगी विलासी हो जाते है। भारतवासी ज्ञान से आलसी हो गये थे और अमरीका और रूस के भोगी विलासी हो गये हैं। ज्ञान और कर्म का समन्वय (मिलाप) होना चाहिये।

सिद्धान्त यह हैं कि विज्ञान और कर्म का प्रयोग साथ साथ करना चाहिये, action must be thoughtful. Our actions must-be conditioned nourished & guided by thought. वेदों का यह सार्वजनिक सिद्धांत हैं, जो तीनों कालों में से एक जैसी उपयोगिता रखता हैं। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है। और यह उद्देश्य सब से बड़े बंधन मृत्यु के बंधन से पार होकर अमृता (मोक्ष पद) का प्राप्त करना है। एक राही (पथिक) जब आंखों से देखता है और उस पर ज्ञान के आधार पर (कर्मेन्द्रिय) पैरों से चलता है तो मंजिल को पा लेता है। वैसे ही यात्री जीवात्मा आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करके ज्ञान युक्त श्रेष्ठतम कर्म करता हुआ (जीवन को यज्ञमय बना कर निष्काम कर्म करता हुआ) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। वेदों के ज्ञान और कर्म दोनों ही जीवों को मोक्ष-आनन्द प्राप्त कराने का उत्कृष्ट-तम साधन हैं। यजु० ४०-१२ में लिखा है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ विद्याया ँरताः ॥

जो कर्म को (ज्ञान की उपेक्षा करके) सेवन करते हैं गहरे अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो केवल ज्ञान का सेवन करते

हैं वह उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं, जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं।

इसका कारण यह है कि ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता, फल कर्मों का मिलता है। ज्ञान तो केवल सत्य मार्ग बताने के लिये होता है और पदार्थों के गुणों को बतलाता है ताकि जीव सत्य मार्ग पर चलकर यात्रा में पदार्थ रूपी साधनों से पूरा-पूरा लाभ उठाता हुआ परमात्मा के चरणों में पहुंच कर अपने लक्ष्य (goal) (मोक्षानन्द) को प्राप्त कर सके। इसलिये वेद की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊंचा स्थान है। यह बात कभी किसी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी को भूलनी नहीं चाहिये। यहीं से गीताकार ने कर्म योग की शिक्षा ली है। यह जो आपने लिखा है "यज्ञादि कर्मानुष्ठान से मोक्ष पद की प्राप्ति नहीं होती" ठीक मालूम नहीं होता। श्री कृष्ण महा-राज प्रति दिन हवन-यज्ञ करते थे। वह एक महान् कर्मयोगी और योगेश्वर थे। उनका जीवन श्रेष्ठतम कर्मों से भरपूर था, उनका जीवन ही यज्ञमय जीवन था। उन्होंने भी मोक्ष प्राप्ति का साधन योग ही बताया है। गीता ८। १२-१३॥

सर्व द्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

अर्थात्—सब इन्द्रियों के द्वारों को रोककर (अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर) तथा मन को हृद्देश में स्थिर करके और अपने प्राण को मस्तक में स्थापन करके योगधारण में स्थित हुआ, जो पुरुष ओ३म् इस एक अक्षर-रूप ब्रह्म को उच्चारण करता हुआ, और उसी का चिन्तन करता हुआ शरीर

का त्याग करता है वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

स्वामी जी ! जो मनुष्य ज्ञान के आधार पर यज्ञमय जीवन बनाकर ज्ञानयुक्त श्रेष्ठतम कर्म करता है उसी की योग-साधना सफल होती हैं और वह मोक्षपद का अधिकारी बन जाता है।

मोक्ष मार्ग तो यही योग मार्ग है। श्रीकृष्ण महाराज गीता में लिखते हैं कि ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

गीता ६ । ४६ ॥

तपस्वी से योगी ऊंचा है, ज्ञानी से भी योगी श्रेष्ठ है, कर्म के साधकों से भी योगी उत्तम है। ए अर्जुन इसलिये तू योगी बन।

योग नाम उस साधना का है जिसके द्वारा आत्मा परमात्मा से मिलता है। योग का अर्थ है युक्त होना, मिलना। मिलने के लिये दो का होना आवश्यक है। एक वह जो मिलता है और एक वह जिससे मिला जाता है। योग से जीव और ब्रह्म का मिलाप होता है।

जो सरल और परिश्रम रहित मार्ग बतलाते हैं वह मोक्षपद को प्राप्त नहीं कर सकते।

पृष्ठ १०० पर आपने लिखा है "जीव कर्म से बंधता है और ज्ञान से मुक्त होता है।" स्वामी जी दुष्कर्मों और सुकर्मों से जीव बंधता है वरन् ज्ञानयुक्त कर्मों (निष्काम कर्मों) से नहीं बंधता, निष्काम कर्मों से मुक्त हो जाता है। केवल ज्ञान से मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता।

फिर आप लिखते हैं "जैसे ज्ञान उत्तम है वैसे यज्ञ नहीं है, क्योंकि पुरुष ज्ञान से दुगर्म संसार [जन्ममरण] को पार कर

सकता है, यज्ञों से नहीं।"

स्वामी जी! यज्ञ कहते हैं ज्ञानयुक्त श्रेष्ठतम कर्मों को (निष्काम कर्मों) विना निष्काम कर्मों के मन पवित्र नहीं हो सकता। पवित्र मन ही एकाग्र हो सकता है। एकाग्र मन से ही धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था बनती है। इस समाधि की अवस्था में पहुंचकर ही जीव को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और शरीर छोड़ने के बाद जन्ममरण के चक्र से छूटकर मुक्त हो जाता है केवल ऐसे ब्रह्मज्ञान से कि (मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ) कभी मोक्षपद की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यदि लोहा किसी अद्वैतवादी के उपदेश से यह कहने लग जाये कि "मुझे अद्वैतवादी महात्मा के उपदेश से पूर्ण ज्ञान हो गया है कि मैं ही अग्नि हूं और हर वक्त अग्नि का ही ध्यान करता रहे और कहता रहे "मैं अग्नि हूं" "मैं अग्नि हूं" तो क्या वह अग्निस्वरूप हो जायेगा ? कभी नहीं। हां यदि वह अपने आपको अग्नि में डाल दे तो अग्निरूप अवश्य हो जायेगा। मगर अग्नि ही नहीं हो जायेगा क्योंकि अग्नि में पड़े हुए भी उसकी सत्ता अग्नि से भिन्न ही होगी। अग्नि की तरह गरम और रौशन जरूर हो जायेगा। इसी तरह यदि किसी अद्वैतवादी के उपदेश सुनकर कोई जीव यह कहने लग जाये कि मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया है कि मैं ब्रह्म हूँ और हर वक्त यह कहता रहे कि "अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि" और सत्संग में भी ब्रह्म ही की बातें सुनता रहे तो क्या वह ब्रह्म हो जायेगा ? कभी नहीं। हां जब ज्ञानयुक्त यज्ञ कर्मों (निष्काम कर्मों) से और यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार से मन को एकाग्र करके, फिर ध्यानावस्था को पक्काकर समाधि की अवस्था में पहुंचकर आनन्दस्वरूप ब्रह्म अग्नि को साक्षात्कार करके उसमें अपने

आपको डाल तो वह भी तद्रूप याने आनन्द स्वरूप हो जाता है और ब्रह्म के आनन्द से आनन्दित हो जाता है। ऐसा जीव जब शरीर छोड़ता हैं तो जन्म मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है और मोक्षावस्था में ब्रह्मानन्द को भोगता रहता है।

पृष्ठ १०३ पर आप लिखते हैं कि "विवेकी पुरुषों के लिये ज्ञान मार्ग यज्ञादि कर्म-मार्ग एवं योग आदि मार्गों से सरल, परिश्रम से रहित भी है। यज्ञादि करने में महान् झंझट एवं खर्चा होता है। योग आदि मार्गों में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का महान् झंझट है। ज्ञान मार्ग में सत्संग आदि सुनना बड़ा सरल एवं मनोरंजक लगता है। सत्संग में मन स्वतः लग जाता है। ध्यान में आधा घण्टा भी बैठना कठिन हो जाता है। योग में मन को एकाग्र करना पड़ता है। सत्संग में स्वतः एकाग्र हो जाता है। इसलिये सत्संग में जाया करो। वहां मनोरंजक सत्संग सुना करो और रूप ब्रह्माभ्यास किया करो कि "अहं ब्रह्मस्मि।"

पूज्य स्वामी जी ! यज्ञादि कर्म-मार्ग एवं योग आदि मार्ग यद्यपि कठिन हैं मगर विना ज्ञानयुक्त यज्ञादि कर्मों और योगाभ्यास के उस महान् फल मोक्षानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। केवल महात्माओं के सत्संग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्संग से ब्रह्म ज्ञान भी मिलेगा और मोक्ष प्राप्ति (ब्रह्म प्राप्ति) की इच्छा भी पैदा होगी परन्तु मोक्षप्राप्ति तो केवल (योग साधनों से ही मिलेगी) योग साधनों के अभ्यास से मिलेगी। एक आदमी पहलवान बनना चाहता था। वह अद्वैतवादी पहलवानों की संगत में बैठता था। पहलवानों से पहलवानी की मनोरंजक बातें भी हर रोज सुना करता था और उनके उपदेश के अनुसार यह भी हर वक्त कहता रहता था कि "मैं पहलवान हूँ" "मैं पहलवान हूँ।" कई वर्ष गुजर गये

परन्तु वह पहलवान न बना। फिर वह परमात्मा के एक सच्चे उपासक पहलवान को मिला। उसने कहा कि ऐ भोले भाई ! कभी कोई केवल पहलवानों की संगत में बैठने, पहलवानी की मनोरंजक बातें सुनने, और "मैं पहलवान हूँ" "मैं पहलवान हूँ" ऐसा कहने से भी पहलवान बन सकता है ? पहलवानों की संगत से पहलवानी का शौक तो जरूर पैदा हो सकता है और यह ज्ञान भी हो सकता है कि डंड कैसे निकाले जाते हैं। उठ-बैठ कैसे की जाती है, कुश्ती कैसे लड़ी जाती है और दावों-पेचों का प्रयोग कैसे किया जाता है। परन्तु इन सब बातों का ज्ञान हो जाने पर यदि तुम दंड निकालने, उठ-बैठ करने और कुश्ती में दाव-पेंच लगाने का अभ्यास नहीं करोगे तो तुम कभी भी पहलवान नहीं बन सकते, केवल ज्ञानमात्र पहलवानी और पहलवानों की संगत में बैठकर "मैं पहलवान हूँ" कहने से आज तक कोई पहलवान नहीं बन सका। ज्ञान के साथ पुरुषार्थ करना जरूरी है। इसी तरह अद्वैतवादी महात्माओं के सत्संग में बैठने और मनोरंजक बातें सुनने से कोई सत् चित् जीव सत् चित् आनन्द नहीं बन सकता। सत् चित् आनन्द स्वरूप बनकर ब्रह्म के आनन्द को भोगने के लिये ज्ञान को प्राप्त करके पुरुषार्थ करना पड़ता है, योगाभ्यास करना पड़ता है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति इतनी सरल नहीं कि बिना परिश्रम करने के सत्संग में सुनने से ही उसकी प्राप्ति हो जाये। सत्संग के अर्थ हैं सत्य का संग। सत्यस्वरूप है परमात्मा। इसलिये "सत्संग" का अर्थ हुआ परमात्मा का संग। उसका संग तो समाधि की अवस्था में ही हो सकता है और समाधि बिना योगाभ्यास के लग नहीं सकती। महात्माओं के सत्संग से प्रेरणा तो मिलती है परन्तु सत् याने परमात्मा का

संग नहीं मिलता। महात्माओं के सत्संग से हमको तत्त्व ज्ञान मिलेगा। उस तत्त्व ज्ञान से हमको इस बात का ज्ञान होगा कि "मैं" एक चैतन्य आत्मा (जीवात्मा) इस शरीर के अन्दर शरीर से भिन्न हूँ। और फिर यह ज्ञान होगा कि परमात्मा मेरी अन्तर आत्मा है जो कि आनन्द का भंडार है। जड़ पदार्थ आनन्द से शून्य हैं। इसलिये आनन्द की प्राप्ति मुझे ब्रह्म से ही हो सकती है। इतना ज्ञान होने के पश्चात् वह फिर उस आनन्द की प्राप्ति के लिये अपने आपको साधना चतुष्टय से सम्पन्न करता है। वह चार वस्तुएं है १. विवेक, २. वैराग्य ३. षट् सम्पत्ति ४. मुमुक्षुता (मुक्ति की तीव्र इच्छा)। फिर वह स्वाध्याय, सत्सग, निष्काम सेवा, यम, नियम, आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,समाधि के अभ्यास में लग जाता है। फलतः मोक्ष प्राप्त करके मोक्षानन्द को भोगता है।

पृष्ठ १०८ पर आपने लिखा है "ज्ञानमार्ग से फीस थोड़ी और फल महान्, नित्य आनन्दस्वरूप परमपद मोक्ष की प्राप्ति है"। प्रश्न होता है कि यह महान् फल किसको मिलता है क्योंकि जब अन्तःकरण का अन्त होता है तो (आपके कथनानुसार) जीव का भी अन्त हो जाता है तो यह फल किसको मिलेगा ? जिसको मिलेगा वह तो ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला होगा और उसकी सत्ता बनी रहेगी तब ही तो इस महान् फल को भोगेगा।

स्वामी जी आपने यत्न तो बहुत किया है जीव को समाप्त करने का, मगर वह समाप्त होता नहीं क्योंकि क० ३०-१-२-१८ में लिखा है

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

जीवन-पहेली

इसमें आपने परमात्मा की माया से रचे हुए संसार की बड़ी अवहेलना (अनादर) की है। परमात्मा) को एक जादूगर धोखेबाज बताया है और संसार को एक जादू (धोखा) बताया है कि यह एक तरह का स्वप्न मात्र झूठा खेल है। हमने संसार के पदार्थों को मृगतृष्णा के जल की तरह सच्चा समझकर बहुत धोखा खाया है। हम इन झूठे पदार्थों में ही आनन्द की खोज में लगे रहे और सारा जीवन बरबाद कर दिया। अब निराशा छा रही है। हमसे बहुत धोखा हुआ है। हम कोशिश तो करते रहे आनन्द को प्राप्त करने के लिये मगर मिला दुःख।"

स्वामी जी! यह संसार स्वप्न की तरह या मृगतृष्णा के जल की तरह झूठा नहीं। न ही इसके रचयिता ने हमको धोखा देने के लिये इसकी रचना की है। आप उस दयालु न्यायकारी, कल्याणकारी परमात्मा को धोखाबाज और ससार को एक धोखा बता रहे हैं। उसने तो हम जीवों के (अपने पुत्रों के) कल्याण के लिये यह संसार बनाया है और आप कहते हैं उसने हमारे साथ धोखा किया है। परमात्मा के लिये ऐसे शब्द आपके मुंह से शोभा नहीं देते। क्रोध में आकर आप अपने आपको ब्रह्म से भिन्न समझ रहे हैं तभी तो आपने लिखा है "हमसे बहुत धोखा हुआ है" धोखा देने वाला वह और धोखा खाने वाले आप। यदि ब्रह्म के सिवा और कोई है ही नहीं तो उसने यह धोखा अपने आपको दिया है। यदि धोखे का कारण संसार के पदार्थों का दुरुपयोग करना कहो तब तो ठीक है हम जीव इनका दुरुपयोग करके अपने आपको धोखा देते हैं जब परमात्मा के दिये हुए ज्ञान से उलट चलकर इनका दुरुपयोग करते हैं। वह सर्वज्ञ, कारीगरों का कारीगर, दयालु परमपिता परमात्मा धोखेबाज

नहीं, उसको धोखेबाज मत कहो। इसने तो अपनी सम्पूर्ण कला और ज्ञान लगाकर हम जीवों के कल्याण के लिये एक अद्‌भुत पूर्ण सृष्टि की रचना की है। जो जीव अपने शरीर और संसार के पदार्थों का ईश्वर के नियमों के अनुसार सदुपयोग करते हैं वह परमात्मा के आनन्द को प्राप्त करते हैं और जो इनका दुरुपयोग करते हैं वह जन्ममरण के बन्धन में फंसे रहते हैं और नाना प्रकार की योनियों में भटकते रहते हैं और दुःख उठाते हैं। दुनिया को झूठा या खराब मत कहो। क्या कभी झूठे साधनों से भी सत्य परमात्मा के सत्य आनन्द की प्राप्ति हो सकती है ? झूठा और खराब वह है जो सच्चे और पूर्ण सर्वज्ञ परमात्मा की रचना को झूठा स्वप्न की तरह समझते हैं। ऐसे कृतघ्न मनुष्यों को जब प्यास लगे तो इनको परमात्मा का अमृतरूपी जल कभी नहीं देना चाहिये और भूख लगे तो अन्न नहीं देना चाहिये। बीमार पड़ें तो इनका इलाज नहीं करना चाहिये। क्योंकि प्यास भी झूठी, जल भी झूठा, भूख भी झूठी और अन्न भी झूठा, बीमारी भी झूठी और औषध भी झूठी। इनका मन भी झूठा बुद्धि भी झूठी। वेद ज्ञान भी झूठा, सत्संग भी झूठा। उनके उपदेश भी झूठे, उनका पढ़ना-पढ़ाना भी झूठा, उनकी पुस्तकें भी झूठी उनकी उपासना भी झूठी, मुक्ति भी झूठी।

मोक्षानन्द की प्राप्ति भी झूठी। पाकस्थान हमारे देश पर आक्रमण करे तो मत लड़ो क्योंकि आक्रमण भी झूठा और लड़ाई भी झूठी। यदि हमारे देश पर कब्जा करे तो कर लेने दो क्योंकि हमारा देश भी झूठा और कब्जा भी झूठा। जब सब कुछ झूठ हैं तो परमात्मा का होना भी झूठा।

इसलिये स्वामी जी ! प्रार्थना है कि भारत के बच्चों को ऐसी हानिकारक शिक्षा मत दो कि दुनिया झूठी है अपितु

यह शिक्षा दो कि संसार के पदार्थों को साधन समझ कर इनसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति करो। संसार के पदार्थ झूठे तो नहीं पर नाशवान् हैं। सदा रहने वाले नहीं हैं। इनकी ममता में मत फंसो, लिप्त न हो जाओ। यह आपके जीवन का लक्ष्य नहीं हैं बल्कि आपके लक्ष्य को प्राप्त कराने के साधनहैं। विना इनके आप अपने लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। जो मृगतृष्णा के जल को सच्चा जल समझते हैं वह तो मूर्ख हैं पर जो सच्चे जल को भी मृगतृष्णा का जल समझ कर अपनी प्यास को नहीं बुझाते वह महामूर्ख हैं।

स्वामी जी! जीवन पहेली में जो कुछ आपने लिखा है यह विवेक और तत्त्व ज्ञान की बातें नहीं, यह तो स्वप्न की दुनिया में रहने वालों की बातें हैं। जिनका काम है स्वप्न ही देखते रहना और पड़े रहना। और यह पाठ पढ़ते रहना- "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" "यह जो कुछ भी स्वप्न में नजर आ रहा है सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है।" जब जगत् में सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है और ब्रह्म सत्य है तो जगत् कैसे स्वप्नमात्र झूठा हो गया। यह बात मेरी समझ में नहीं आती।

पृष्ठ ११४ पर आप लिखते हैं "जिस परम शान्ति को तुम संसार के पदार्थों में खोज रहे हो वह परम शान्ति आनन्द-स्वरूप तो तुम्हारा असली स्वरूप है। जरा वृत्ति को अन्तर्मुख करके अपने दर्शन करके देख लो। तुम अपने असली स्वरूप को भूल कर ही इस स्वप्न सदृश मिथ्या बन्धन में वृथा अपने को बंधा हुआ समझ रहे हो।"

पूज्य स्वामी जी! परम शान्ति और आनन्द तो परमात्मा का ही असली स्वरूप है। और सर्वज्ञ परमात्मा कभी अपने स्वरूप को भूल कर इस स्वप्न सदृश मिथ्या बन्धन में अपने को बंधा हुआ नहीं समझ सकता। जो भूल गया है वह

परमात्मा नहीं हो सकता और न ही परम शान्ति और आनन्द स्वरूप उसका असली स्वरूप हो सकता है। यह तो अज्ञानी जीव को समझाया जा रहा है कि ऐ जीव! परम शान्ति और आनन्द जिसका असली स्वरूप है और जिससे आपको शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हो सकती है वह है तेरा अन्तर्यामी अन्तरात्मा (परमात्मा)।

तू उसको न जानकर अपने से बाहर नाशवान्, आनन्द से शून्य भौतिक पदार्थों में आनन्द की खोज कर रहा है। जरा वृत्ति को बाहर से हटाकर अन्तर्मुख करके अपने अन्तरात्मा आनन्द स्वरूप परमात्मा के दर्शन करके तो देख, तू आनन्द से आनन्दित हो जावेगा।

यदि सचमुच जीवात्मा का असली स्वरूप आनन्द स्वरूप ही होता तो वह पागलों की तरह आनन्द की तलाश मृगतृष्णा रूपी संसार के झूठे पदार्थों में क्यों करता? अज्ञानी आनन्द से शून्य जीवात्मा तो ऐसा कर सकता है परन्तु आनन्द का भंडार सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा नहीं कर सकता। क्या प्रकाश-स्वरूप सूर्य को प्रकाश के खोज करने की आवश्यकता होती है? आप कहते हैं "तमाम जीव आनन्द के मजनूं हैं।" यदि जीव आनन्द स्वरूप होता तो फिर वह मजनूं बनकर आनन्द की खोज में न भटकता और न आप उसको आनन्द का मजनूं कहते।

अशान्ति का अन्त

(पृष्ठ ११७) इसमें आप लिखते हैं "बेचारा शान्ति से बिछुड़ा हुआ मन न जाने कब से शान्ति को खोज रहा है।" पूज्य स्वामी जी! मन तो जड़ है। इसको तो शान्ति और अशान्ति का ज्ञान ही नहीं क्योंकि जड़ वस्तु तो ज्ञानशून्य होती है। हां, बेचारा चैतन्य जीव शान्ति के

भंडार (परमात्मा) से बिछुड़ा हुआ है और जन्म जन्मान्तरों से इसकी खोज में लगा हुआ है। मोक्ष काल में वह शान्ति और आनन्द स्वरूप परमात्मा में स्थित होकर उसके आनन्द को भोगता है और शांत रहता है। मुक्ति-अवस्था की अवधि समाप्त होने पर उसको ब्रह्मलोक (मोक्षावस्था) से पुनः लौट कर मृत्युलोक (संसार) में आना पड़ता है जैसा कि आपने लिखा है "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" पुण्य क्षीण होने पर फिर यहां मृत्यु लोक (संसार) में आना पड़ता है। अर्थात् जन्म लेकर फिर शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये जीव पुरुषार्थ शुरू कर देता है। वह चाहता तो है नित्य शान्ति और आनन्द जिसका कभी अन्त न हो परन्तु उसकी योग्यता और सामर्थ्य परिमित हैं जिससे उसको एक बहुत दीर्घ काल के लिये तो आनन्द और शान्ति की प्राप्ति हो सकती है पर ऐसी नित्य शान्ति और आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता जो अनन्त काल के लिये हो। नित्य शान्ति और आनन्द तो स्वाभाविक होते हैं जैसे परमात्मा में हैं। आनन्द और शांति जीव के स्वाभाविक गुण नहीं।

शान्ति और मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिये आपने जो साधन बताये हैं वह यह हैं—(१) शुभ निष्काम कर्मों और भगवदुपासना से अपने अन्तःकरण को शुद्ध, पवित्र व अचंचल बनाना (२) मुक्त होने की तीव्र इच्छा को हृदय में उत्पन्न करना (३) सत्संग (४) विवेक (तत्त्व ज्ञान) (५) वैराग्य (६) आत्म-ज्ञान। स्वामी जी यह तो ठीक हैं परन्तु विवेक (तत्त्व ज्ञान) संसार को मिथ्या (स्वप्न मात्र) नहीं बतलाता। यह तो संसार के जड़, नाशवान्, ज्ञान और आनन्द से शून्य अनात्म पदार्थों और चेतन आत्मा में भेद बताता है। इन अनात्म जड़ पदार्थों

में लिप्त न होकर इनका सदुपयोग करके अपने लक्ष्य, मोक्षा-नन्द को प्राप्त करना सिखाता है।

पृष्ठ १२१ पर आप लिखते हैं "सत्यं वद, धर्मं चर" "सत्य बोलो अर्थात् समस्त व्यवहार सत्यता पूर्वक करो और कर्त्तव्यों का पालन करो।" "ऐसा करने से भगवत्कृपा होगी और सत्संग प्राप्त होगा।"

झूठा होगा।

आप लिखते हैं "आत्म ज्ञान के सिवा परम शान्ति को प्राप्त करने का कोई अन्य रास्ता है ही नहीं।" जब सब कुछ झूठा है तो आत्मज्ञान भी झूठा हुआ, तो फिर बेचारे जीव को परम शान्ति की प्राप्ति कैसे होगी? वह तो तड़पता रहेगा। परन्तु शुक्र है परमात्मा का कि जीव का तड़पना भी स्वप्नमात्र झूठा है और स्वयं जीव भी कल्पित याने झूठा है।

पृष्ठ १२२ पर आप लिखते हैं "शांति ही हमारा असली स्वरूप है। जिस प्रकार नदी अपने असली स्वरूप समुद्र को जब तक प्राप्त नहीं करती, तब तक उसके विरह की तड़पन का अन्त नहीं होता, उसी प्रकार जब तक यह जीव अपने असली स्वरूप आनन्द के समुद्र सच्चिदानन्द स्वरूप को प्राप्त नहीं करेगा, तब तक उसके विरह की तड़पन का अन्त नहीं आवेगा याने वह अशान्त रहेगा।"

पूज्य स्वामी जी! जब शान्ति ही हमारा असली स्वरूप

है तो हम अशान्त कभी हो ही नहीं सकते। क्योंकि स्वाभाविक गुण कभी गुणी से पृथक् हो ही नहीं सकता जैसे चीनी से मिठास कभी पृथक् नहीं हो सकता, न ही सूर्य से प्रकाश और गरमी कभी पृथक् हो सकती है। इसी तरह यदि जीव का स्वाभाविक स्वरूप ही शान्ति और आनन्द है तो फिर वह इस स्वरूपको प्राप्त करने के लिये क्यों तड़पेगा? अप्राप्त अनुभव की हुई अच्छी वस्तु को फिर प्राप्त करने के लिये तो तड़पन पैदा होती है। लेकिन प्राप्त वस्तुको फिर प्राप्त करने का प्रश्न हा पैदा नहीं होता क्योंकि वह तो प्राप्त ही है।

नदी भी जलस्वरूप है और समुद्र भी जलस्वरूप है। नदी के जल को तो अपना स्वरूप प्राप्त है। प्राप्त को प्राप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। नदी भी जल है और समुद्र भी जल, दोनों जलस्वरूप हैं। जल को जिस जगह डालोगे वैसा ही स्वरूप धारण कर लेगा, घड़े में घड़े का, सुराही में सुराही का, नदी में नदी का और समुद्र में समुद्रका। जल के यह स्वरूप जल के अपने स्वरूप नहीं होते। यह तो जैसी जगह होगी वैसा स्वरूप धारण कर लेता है। जल का असली स्वरूप तो जल स्वरूप है। नदी में भी, समुद्र में भी, घड़े में भी, सुराही में भी उसका वही स्वरूप है। अपने असली जलस्वरूप को प्राप्त करने के लिये वह समुद्र में नहीं जाता। वह तो पानी का हिस्सा (अंश) है। वह पानी में मिल जाता है। पानी-पानी में मिल जाता है, प्रकाश प्रकाश में। परन्तु जीव ब्रह्म की तरफ इसलिये नहीं जाता कि वह उसका अंश है, वह तो शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये उसकी तरफ जाता है जैसे प्यासा जल की ओर दौड़ता है। जब तक जल नहीं मिलता तड़पता है क्योंकि उसका अनुभव है कि प्यास जल से ही शान्त होगी। इसी तरह जीव ने ब्रह्मानन्द का अनुभव किया

हुआ है मोक्षावस्था में। जब मोक्ष की अवधि के बाद फिर ससार में आता है तो उस आनन्द से पृथक् हो जाता है। उस को फिर प्राप्त करने के लिये पुनः पुरुषार्थ करना शुरु कर देता है। जब तक फिर उसको प्राप्त नहीं कर लेता तड़पता रहता है। यही कारण है कि संसार के सब जीव चिरस्थायी सुख को प्राप्त करने में लगे हुए हैं। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य है। संसार के पदार्थों से उसके आनन्द की प्यास नहीं बुझ सकती इसलिये वह उनको छोड़ देता है और फिर योगाभ्यास की सीढ़ियों पर चढ़कर ब्रह्मलोक में पहुंच जाता है, और ब्रह्मानन्द को प्राप्त करके आनन्दित होता रहता है (एक दीर्घ काल के लिये) यदि जीव शान्त और आनन्दस्वरूप होता तो वह ब्रह्मानन्द के विरह में क्यों तड़पता ? उसका तड़पना साफ बता रहा है कि वह आनन्द और शान्तस्वरूप नहीं। क्या शान्त और आनन्दस्वरूप भी तड़पा करते हैं? यह आनन्द के लिये तड़पने वाला आनन्द का भिखारी, आनन्द के भण्डार, आनन्द के दाता ब्रह्म से भिन्न जीव है।

तीन अनादि नित्य सनातन सत्ताएं

प्रकृति, जीव और परमात्मा के अनादि होने में प्रमाण और युक्तियां:—

(१) त्रैतवाद को प्रमाणित करने के लिये हमें कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं। परमात्मा के सम्बन्ध में जो उस के गौणिक नामों (सिफाति नामों) के लिये जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वह शब्द ही पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि ब्रह्म से भिन्न और सत्ताएं भी हैं।

परमात्मा —के अर्थ हैं परम+आत्मा (बड़ी आत्मा)। इस का मतलब यह हुआ कि कोई छोटी आत्मा भी है। यदि

छोटी आत्मा (जीवात्मा) न होती तो बड़ी आत्मा कहना ही अशुद्ध हो जाता। जब हम कहते हैं छोटा लड़का तो इसका मतलब होता है कि बड़ा लड़का भी है। छोटे के बगैर बड़ा कहला ही नहीं सकता।

ब्रह्म—के अर्थ हैं बड़ा, तो फिर छोटा कौन ? छोटा जीवात्मा और बड़ा परमात्मा।

पूर्ण—परमात्माको पूर्ण कहा गया है तो फिर अपूर्ण कौन? यदि कोई अपूर्ण सत्ता न होती तो पूर्ण शब्द ही न होता। जीवात्मा अपूर्ण है इसलिए परमात्मा को पूर्ण कहा है।

पिता—परमात्मा को पिता कहा है तो इसके पुत्र कौन ? विना पुत्र के कोई पिता नहीं कहला सकता। पुत्र न होता तो पिता का शब्द ही न होता। जीवात्मा पुत्र है और परमात्मा पिता है।

प्रजापति—तो प्रजा कौन ? जीवात्मा प्रजा है।

राजा—वह राजा है तो प्रजा कौन ? तमाम जीव प्रजा है।

बन्धु—"स नो बन्धुः" वह हमारा बन्धु है। हम कौन जिनका वह बन्धु है ? हम हैं जीवात्मा जिनका वह बन्धु है।

दयालु—यदि उसकी दया का कोई पात्र ही न हो जिस पर वह दया करे तो उसका दयालु कहलाना सार्थक नहीं हो सकता। उसकी दया के पात्र हैं जीवात्मा। इस लिये वह दयालु कहलाता है।

अनादि—वह अनादि है तो सादि कौन ? प्रकृति से बनी हुई सृष्टि और सब प्राकृतिक पदार्थ सादि हैं।

अनन्त—वह अनन्त है तो अन्त वाला कौन ? प्रकृति

से बनी हुई सृष्टि और प्राकृतिक पदार्थ अन्त वाले हैं।

निराकार—वह निराकार है तो साकार कौन ? प्राकृतिक पदार्थ साकार हैं।

निर्विकार— वह निर्विकार है तो विकारी कौन ? प्रकृति और उससे बने हुए पदार्थ।

सर्वाधार—वह सर्व कौन जिन का वह आधार है ? तमाम जीवों और प्रकृति से बने हुए समस्त ब्रह्मांड का आधार है।

सर्वद्रष्टा—वह सर्व कौन जिनका वह द्रष्टा है ? वह है ब्रह्मांड के सर्व प्राकृतिक पदार्थ और सर्व जीव।

सर्वव्यापक—आत्मा के अर्थ हैं व्यापक। विना व्याप्य के व्यापक नहीं हो सकता। वह व्याप्य कौन है ? समस्त ब्रह्मांड के प्राकृतिक पदार्थ और सब जीव उसके व्याप्य हैं और वह इन सबमें व्यापक है। इसलिये उसको सर्वव्यापक कहा है।

विधाता और न्यायकारी—यदि ब्रह्म के सिवा और कोई नहीं है तो फिर उसने सृष्टि नियम क्या अपनी(राहनुमाई) पथ-प्रदर्शकता के लिये बनाये हैं और क्या वह स्वयं ही अपराधी और न्यायकारी भी है ? ऐसा नहीं हो सकता। वह जीवों की रहनुमाई के लिये विधान बनाता है इसलिये विधाता कहलाता है और जीवों के कर्मों का न्याय करता है इसलिये न्यायकारी कहलाता है।

कर्माध्यक्ष—श्वेता० ६। १२ में परमात्मा को कर्माध्यक्ष कहा है। किनके कर्मों की अध्यक्षता करता है ? वह हैं अल्पज्ञ चैतन्य जीव। यदि जीव कर्मों के कर्त्ता न होते तो वह कर्माध्यक्ष न कहलाता।

नियन्ता—जो नियमन करता है (जो नियमबद्ध करता